THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT DARK AND LIGHT

TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176149
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80'9 B57H Accession No. P.G. H256

Author भटनागर, रामरतन

Title हिन्दी गद्य. 1948.

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिंदी गद्य

रामरतन भटनागर

आलोचना व निबन्ध

किताब-महल

हिन्दी-गद्य

रामरतन भटनागर, एम्० ए०, डी० फ़िल०

किताब महल * प्रकाशक * इलाहाबाद

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक—इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद ।

प्राक्कथन

हिन्दी-गद्य-साहित्य के जन्म और विकास की कथा अनेक उलझनें उपस्थित करती है। पद्य जिस तरह सुरक्षित रहा, उस तरह गद्य सुरक्षित नहीं रह सका। इस कारण हमारे उपलब्ध गद्य-साहित्य में बीच-बीच में बड़े पोले स्थान हैं। जब तक नई खोजों के द्वारा इन बीच के रिक्त स्थानों को हम भर नहीं लेते, तब तक हिन्दी-गद्य-साहित्य का व्यवस्थित इतिहास लिखा जाना असम्भव है।

परन्तु फिर भी गद्य-साहित्य की थोड़ी-बहुत रूपरेखा बनाई जा सकती है। वह बहुत कुछ पूरी भी की जा सकती है। यह निश्चय है कि गद्य हमारी आधुनिक प्रवृत्ति है और उसका विशेष विकास पिछले १५० वर्षों में हुआ है। इस डेढ़ शताब्दी के समय में गद्य के अनेक रूपों का आविष्कार हुआ और उनमें बहुत कुछ लिखा गया। फलस्वरूप अनेक शैलियाँ भी विकसित हुई। इन शैलियों का सम्बन्ध 'खड़ी बोली' से है। स्वयं खड़ी बोली के तीन रूप हिन्दी-प्रदेश में प्रयोग आते रहे हैं—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी। फिर इन तीनों रूपों में थोड़ा या बहुत साहित्य भी लिखा जाता रहा है। इसलिए हिन्दी शैली के विकास पर विचार करते हुए खड़ी बोली के इन तीन रूपों पर भी विचार करना पड़ता है।

फिर पिछले २५-३० वर्षों में शैली की दृष्टि से सैकड़ों प्रयोग हुए हैं जिनका वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक संभव नहीं हुआ है। प्रतिदिन नए-नए लेखक नई-नई शैलियाँ लेकर आगे बढ़ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में गद्य-साहित्य के इतिहास, हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी और गद्य शैली के जन्म और विकास पर संक्षिप्त रूप में विचार किया है। विस्तृत रूप में विचार करने की सुविधा अभी नहीं है।

जो हो, लेखक इस प्रारम्भिक प्रयत्न की उपयोगिता में विश्वस्त है। हिन्दी-गद्य-साहित्य और हिन्दी-गद्य-शैली के विद्यार्थियों को यह पुस्तक सहायता देगी, इसमें उसे कोई संदेह नहीं।

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
१—भूमिका	...	...	१-२२
२—हिन्दी-गद्य का इतिहास	...	...	२३-८५
३—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी	...	...	८६-११०
४—खड़ी बोली गद्य की भाषा-शैलियों का विकास		...	१११-२३८
५—परिशिष्ट-हिन्दी शैली के विकास-सम्बन्धी उद्धरण...			२३९-२६५

१

भूमिका

हमारा गद्य-साहित्य

भारतीय साहित्य गद्य, पद्य और चम्पू इन तीन रूपों में प्रकाशित हुआ है। चम्पू गद्य-पद्य मिश्रित शैली है और संस्कृत साहित्य में इस शैली में अनेक रचनाएँ मिलती हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में हम मैथिलीशरणगुप्त की रचना 'यशोधरा' को इस श्रेणी में रख सकते हैं। फिर भी चम्पू-शैली में अधिक नहीं लिखा गया। साहित्य के दो सर्व-मान्य रूप-गद्य और पद्य ही रहे हैं और इन्हीं के अंतर्गत साहित्य के सारे प्रकार-भेद आ जाते हैं। भारतीय साहित्य में पद्य की अपेक्षा गद्य की मात्रा बहुत कम है। जो है, वह भी इतनी उच्च श्रेणी का नहीं है, जितनी उच्च श्रेणी का पद्य। यही कारण है कि भारतीय साहित्य काव्य का पर्यायवाची समझा जाता है। १८०० ई० से पहले का अधिकांश हिन्दी साहित्य भी पद्य में है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे साहित्य में युगांतकारी परिवर्तन हुए। इनमें सब से बड़ा परिवर्तन गद्य का प्रयोग और उसके अनेक रूपों का विकास था। सच कहा जाय तो नवयुग का साहित्य गद्य का साहित्य है और शताब्दियों तक पद्य द्वारा साहित्य का जो नेतृत्व होता रहा है वह छिन गया है। जीवन की जितनी विविधताओं, जितनी विभिन्न अनुभूतियों और जितने विरोधी विचारों को आज गद्य प्रकट कर रहा है उतना पद्य के लिए कभी संभव नहीं रहा। आज का युग गद्य का युग है।

प्राचीन हिन्दी-गद्य

श्री राहुल सांकृत्यायन की खोजों से हिन्दी पद्य-साहित्य का प्रारंभ आठवीं तथा नवीं शताब्दी में सिद्ध हो चुका है परंतु हिन्दी-गद्य-साहित्य के सर्वमान्य अवतरण चौदहवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलते। हमारे गद्य और पद्य के आरंभ में इस प्रकार लगभग पाँच शताब्दियों का अंतर पड़ जाता है और साहित्य के विद्यार्थी को इस अंतर के कारण की खोज निकालना आवश्यक हो जाता है।

लगभग सभी देशों में गद्य का विकास पद्य के बाद ही हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि पद्य-साहित्य गीतात्मक होने के कारण सरलता से कंठाग्र किया जा सकता था। छापे के आरम्भ से पहले देशी और विदेशी लगभग सभी साहित्यों में गद्य का अंश बहुत थोड़ा था। यह नहीं कि गद्य का साहित्य बना ही नहीं परंतु यदि वह धार्मिक नहीं था तो अपने को स्थायी रूप देने में समर्थ नहीं हो सका। पद्य का प्रचार अधिक होने के कारण उसमें शीघ्र ही प्रौढ़ता आ गई और उससे ही गद्य का काम निकलने लगा। वैद्यक, ज्योतिष, साहित्य-शास्त्र संबंधी प्राचीन ग्रंथ पद्य में ही हैं। फिर भी यह नहीं माना जा सकता कि १४ वीं शातब्दी के पूर्व गद्य का प्रयोग नहीं होता था। अनेक व्यावहारिक कार्यों के लिए गद्य का प्रयोग आवश्यक रहा होगा परंतु लौकिक साहित्य होने के कारण आज उसके नमूने उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ थोड़े बहुत मौजूद भी हैं उनकी सत्यता के विषय में संदेह है।

१४ वीं शताब्दी के पूर्व साहित्य की भाषा डिंगल थी। राजपूत दरबारों की भाषा यही थी। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व की डिंगल भाषा के जो नमूने पाये जाते हैं उनके विषय में मतैक्य नहीं है परंतु १४ वीं शताब्दी के बाद गद्य साहित्य 'ख्यात' और 'बात' (वार्ता) के रूप में

उपलब्ध है। इस समय हिंदी-प्रदेश की व्यापक साहित्यिक भाषा राजस्थानी थी जिसमें अपभ्रंश का काफ़ी पुट था। ब्रज-भाषा धीरे-धीरे प्रांतीय भाषा के रूप में विकसित हो रही थी परंतु उसका कोई साहित्यिक रूप नहीं था। इस काल की रचनाओं के संबंध में अभी खोज नहीं हुई है। कुछ शिलालेख आदि मिले हैं परंतु उनकी प्रामाणिकता में संदेह है। इस समय का अधिकांश राजस्थानी साहित्य पद्य में है परंतु जैन-धर्म संबंधी कुछ साहित्य गद्य में है। यह प्राचीन राजस्थानी गद्य में है जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव है। इस काल के उत्तर में एक तीसरी भाषा खड़ी बोली का प्रयोग भी साहित्य के लिये होने लगा था परंतु डिंगल गद्य के ही नमूने अधिक मिलते हैं जिससे यह कल्पना की जा सकती है कि १००० ई० से १४०० ई० तक डिंगल गद्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई होगी। ये आज अप्राप्त या संदिग्ध दशा में प्राप्त हैं।

१४वीं शताब्दी के बाद हिन्दी-गद्य दो माध्यमों द्वारा प्रकाशित हुआ। ये माध्यम थे ब्रजभाषा और डिंगल। डिंगल गद्य की परंपरा पहले से चली आ रही थी और पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश के राजकीय कामों में डिंगल गद्य का प्रयोग होता था। १४वीं शताब्दी तक ब्रज-भाषा काव्य विकसित हो चुका था और गोरख पंथ के साधु अपने मत-प्रचार के लिए ब्रजभाषा गद्य-पद्य का प्रयोग कर रहे थे। लगभग सन् १३५० ई० के गोरखपंथी ग्रंथ इस कथन की पुष्टि करते हैं।

संत-सम्प्रदाय जन-समुदाय में एक नवीन धार्मिक संदेश पहुँचाना चाहता था और उसने पश्चिमी जनभाषा (खड़ी बोली और ब्रजभाषा) का प्रयोग किया परंतु ब्रज-भाषा को सबसे बड़ा प्रोत्साहन १६ वीं शताब्दी के कृष्ण-भक्ति वैष्णव आन्दोलन से मिला। जहाँ सूरदास ने लोकगीतों का सहारा लेकर साहित्यिक गीतों की सृष्टि की, वहाँ श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने बोल-चाल की भाषा लेकर प्रारंभिक ब्रजभाषा-गद्य की सृष्टि की। कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय में संगीत की

प्रधानता थी और मन्दिरों में गान-वादन की प्रथा शीघ्र ही प्रचलित हो गई। आचार्य धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार संस्कृत गद्य में करते थे। इसलिए हिन्दी गद्य को भक्तों की महिमा-गाथा के प्रकाशन का साधन बनाया गया। उत्तर काल में वल्लभ संप्रदाय के भक्तों ने हिन्दी गद्य की इस परम्परा को अक्षुण्ण रखा। फलस्वरूप हमें दो ग्रंथ मिलते हैं—चौरासी वैष्णवों की वार्ता और २५२ वैष्णवों की वार्ता। इन ग्रंथों में ब्रजभाषा-गद्य अपने सर्वप्रौढ़ रूप में सामने आता है। हम देखते हैं कि ब्रजभाषा इस काल के प्रारंभ में एक व्यापक धार्मिक आन्दोलन का माध्यम बन गई थी, विशेषकर पद्य में। इसने धीरे-धीरे राजस्थानी को पद्य के क्षेत्र से हटा दिया परंतु राजस्थानी गद्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में चलता रहा। इसका कारण यह है कि गद्य व्यावहारिक है और धर्म में व्यावहारिकता की अपेक्षा आंतरिक प्रेरणा और उल्लास को अधिक स्थान मिलता है और उसका क्षेत्र पद्य है। भक्तों की व्यावहारिकता केवल प्रचार तक सीमित थी, अतः उन्होंने ब्रजभाषा का जो गद्य लिखा वह थोड़ा लिखा और प्रचार की दृष्टि से लिखा। राजस्थानी गद्य में इस काल की बहुत सी रचनाएँ हुईं जो अधिकांश ख्यातों और वार्तों के रूप में हैं। इनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं और अप्राप्य हैं, उन पर खोज नहीं हुई है। ये ख्यातें ऐतिहासिक गाथायें हैं जिनमें राजवंशावली और ऐतिहासिक राजकृतियों के साथ-साथ कल्पनात्मक कथासूत्र भी चलता रहता है। इन ख्यातों की परम्परा कई शताब्दियों तक चली आई है और इनमें हमें राजस्थानी गद्य अपने सबसे प्रौढ़ रूप में मिलता है। राजस्थानी गद्य की सबसे महत्वपूर्ण रचनाएँ जैनों द्वारा लिखी गई हैं परंतु उनके सम्बन्ध में अभी खोज नहीं हुई है। इसकाल में पश्चिमी-दक्षिणी भारत में जैन-धर्म का प्रचार हो रहा था और ये रचनाएँ प्रचार-कार्य से ही संबन्धित हैं।

बोलचाल के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत प्राचीन है।

इसका प्रमाण यह है कि चंद और नरपति नल्ह की कविताओं में भी खड़ी बोली के रूप मिलते हैं। पद्य के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग खुसरो और बाद में कबीर की कविताओं में मिलता है परंतु गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत बाद में हुआ। उर्दू के विद्वानों की खोजों से पता चला है कि दक्षिण में खड़ी बोली गद्य का प्रयोग सूफ़ी औलियाओं (सन्तों) द्वारा १३वीं-१४वीं शताब्दी में ही आरंभ हो गया था। हिन्दी खड़ी बोली गद्य का केवल एक नमूना हमारे सामने है। इसे ही हम खड़ी बोली गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण कह सकते हैं। यह अकबर के दरबार के कवि गंग भाट का "चन्द छन्द वर्णन की कथा" है। इस प्रकार हम देखते हैं कि १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गद्य-रचनाएँ विशेषतः व्रजभाषा में थीं। विट्ठलनाथ का शृङ्गाररस मंडन, गोकुलनाथ के किसी शिष्य की ८४ वार्ता और २५२ वार्ता, नन्ददास की विज्ञानार्थ प्रवेशिका, नासिकेत पुराण भाषा और अष्टयाम (१६००) गोस्वामी तुलसीदास का पंचनामा (१६१२), ओरछा-निवासी वैकुण्ठदास (आ० १६१८—१६२४) की रचनाएँ वैकुण्ठ माहात्म्य और अग्रहण माहात्म्य और भुवनदीपिका (१६१४) एवं विष्णुपुरी (१६३३) केवल इतनी ही व्रजभाषा की गद्य-सम्पत्ति आज हमारे पास सुरक्षित बची हैं। १६४३ से १८४३ तक व्रजभाषा और राजस्थानी में गद्य का निर्माण होता रहा परंतु इस समय की रचनाओं में से भी अधिकांश लोप हो गई हैं। १७वीं शताब्दी के बाद वैष्णव-धर्म-भावना शिथिल हो गई। उसमें विलासिता ने घर कर लिया। प्रचार के लिये प्रयत्न कम हो गया। इस उत्तर भक्तिकाल में साहित्य की सृष्टि न गद्य में इतनी अच्छी हुई, न पद्य में। रीतिकाल का आरंभ हुआ। इस काल में संस्कृत आचार्यों का काम कवियों ने ले लिया था जिसने गद्य के विकास को हानि पहुँचाई। उस काल के साहित्य से यह स्पष्ट पता लगता है कि जनता और पंडितों को साहित्य शास्त्र के ज्ञान के प्रति अभिरुचि

थी। ऐसी परिस्थिति में छंद, गुण, अलंकार आदि को स्पष्ट करने के लिए विवेचनात्मक ग्रंथ लिखे जा सकते थे परंतु कवियों ने अपनी रचनाओं में गद्य का काम पद्य से ही लिया। फलस्वरूप वे शास्त्रीय विचारों को स्पष्ट न कर सके और जो गद्य लिखा जा सकता था वह न लिखा गया। हाँ, टीकाओं के रूप में इस काल में कुछ गद्य हमारे सामने आया। ये टीकाएँ प्राचीन गद्य के लिये बिगड़े हुए रूप में लिखी गई हैं। एक तो शैली की स्वतंत्रता के लिये टीका में यों ही अधिक स्थान नहीं है, दूसरे टीकाकार संस्कृत टीकाओं का नमूना हमेशा अपने सामने रखते थे। फल यह होता था कि टीकाओं का गद्य बिल्कुल अव्यवस्थित है। उसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है। यह गद्य लगभग १९वीं शताब्दी की टीकाओं तक में चलता रहा और उसमें उस प्रौढ़ गद्य के दर्शन नहीं होते जो एक बार वार्ताओं में दिखलाई पड़ा था।

व्रजभाषा में जो रचनाएँ हुईं उन्हें हम कई विभागों में बाँट सकते हैं; (अ) टीकाएँ—इनकी संख्या सबसे अधिक है परंतु ये कोई साहित्यिक शैली सामने नहीं रख सकीं। (ब) अनुवाद—अनुवाद अधिकतर संस्कृत से हुये। ये या तो प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद थे जैसे दामोदरदास दादूपंथी का मार्कण्डेय पुराण का अनुवाद या नासिकेतोपाख्यान, वैताल पचीसी, हितोपदेश आदि संस्कृत कथाओं के अनुवाद। इन अनुवादों से पता चलता है कि कथा सुनने-सुनाने की प्रवृत्ति का आरंभ १८वीं शताब्दी में ही हो गया था। फारसी से कुछ ग्रंथ अनूदित हुए जैसे आईने-अकबरी की भाषा-वचनिका। इन अनुवादों की भाषा कहीं भी प्रौढ़ नहीं है। अधिकांश लेखक अपने अनुवाद में व्यापक व्रजभाषा के साथ-साथ प्रांतीय भाषाओं के प्रयोगों को मिला देते हैं जिसके कारण भाषा अव्यवस्थित हो जाती है। भाषा-शैली की दृष्टि से कहानी-अनुवादों की भाषा और "भाषा-

वचनिका" की भाषा महत्वपूर्ण है। इन पर हम आगे सुन्दर ब्रजभाषा गद्य की नींव डाल सकते थे, परंतु शीघ्र ही खड़ी बोली-गद्य के उत्थान ने ब्रजभाषा-गद्य को क्षेत्र से बाहर कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी का खड़ीबोली गद्य

खड़ी बोली हिंदी की प्राचीनतम गद्य-रचनाएँ सूफ़ी संतों का हिदवी गद्य और गंग की "चंद छंद वर्णन की कथा" है। ११ वीं शताब्दी की अनेक ब्रजभाषा कविताओं पर खड़ी बोली की छाप है। १८वीं में गद्य में लगभग वही प्रवृत्तियाँ चलती रहीं जिनसे हम पहले की कई शताब्दियों में परिचित हो चुके हैं। इस शताब्दी में भी राजस्थानी गद्य का प्रयोग चलता रहा। पिछले राजस्थानी गद्य से इस गद्य में विशेष अंतर है। इसका कारण यह है कि इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। इस समय पूर्वी राजस्थानी मिश्रित ब्रज की एक शैली ही चल पड़ी थी। राजस्थानी गद्य अधिकतर ख्याति और 'वचनिका' (वार्ता) के रूप में है। "वचनिका" वास्तव में एक साहित्य-शैली है। सैकड़ों ख़्यातें और हज़ारों वार्ताएँ लिखी गई हैं। साहित्य की दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। इस समय खड़ी बोली का गद्य में प्रयोग होना आरंभ हो गया था। कुछ रचनाएँ राजस्थानी मिश्रित और कुछ ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली में मिलती हैं। इससे पता चलता है कि खड़ीबोली धीरे-धीरे व्यापक प्रभावों से स्वतंत्र रही है। परंतु अट्ठारहवीं शताब्दी में लोक-व्यवहार और चिट्ठी-पत्रियों में चाहे खड़ी बोली गद्य का प्रचार रहा हो, यह निश्चित है कि उस समय भी, जैसे पद्य में वैसे गद्य में, साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही थी। इसीसे इस शताब्दी के गद्य के प्रतिनिधि लेखक सुरतिमिश्र, जानकीप्रसाद और किशोरीदास हैं। इनका रचना-काल १७१० ई० के आस-पास है। ये सब टीकाकार हैं, परंतु सुरतिमिश्र ने बैताल-पच्चीसी नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखा है। ब्रजभाषा पद्य

में जो स्वच्छता और सुन्दरता इस समय हमें मिलती है, गद्य के क्षेत्र में वह स्वप्न है। कदाचित् 'टीका' के कारण इन लेखकों का गद्य अत्यंत जटिल हो गया। उदाहरण के लिए, जानकीप्रसाद की रामचंद्रिका की टीका की भाषा देखिये—

मूल— राघव सर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सकल अँसु सहित मानहु उड़ि कै गयौ॥—

(केशव)

टीका—"सकल कहै अनेक रंग-मिश्रित हैं, अँसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिंद गिरि थंग तें हंस कहे हंसन-समूह उड़ि गयो है। ह्याँ जाति विषय एक वचन है हंसनके सदृश श्वेत छत्र हैं और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नग-जटित मुकुट हैं।"

पं० कृष्ण शंकर शुक्ल की खोज से यह सिद्ध हुआ है कि आधुनिक खड़ी बोली गद्य को सबसे पहली पुस्तक पं० दौलतराम वैद्य का पद्म पुराण का अनुवाद है। इस पुस्तक के उद्धरण भी प्रकाशित किये गये हैं। इनसे यह कल्पना की जाती है कि इस पुस्तक से पहले भी काफ़ी गद्य लिखा जा सका होगा, विशेषकर अनुवादों के रूप में और इस पुस्तक में अपने पूर्व के अनुवादों की शैली का अनुकरण किया गया होगा। यह खोज ईसाई विद्वानों के इस मत का खंडन करती है कि खड़ी बोली गद्य का पहला प्रयोग फोर्ट विलियम के अधिकारियों द्वारा हुआ। १८०० ई० के लगभग हिंदी के गद्य के जो प्रयोग हो रहे थे, उनमें वर्ग विशेष की बोल-चाल का पुट रहता था। फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने उर्दू गद्य को प्रश्रय दिया। हिंदी गद्य केवल मुहाविरा सिखाने के लिए लल्लूलाल के प्रेमसागर के रूप में स्वीकृत किया गया।

वस्तुतः हिंदी गद्य का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। फोर्ट विलियम कालेज से पहले मुं० सदासुखलाल नियाज़ और इंशाअल्लाखाँ अपनी रचनाएँ उपस्थित कर चुके थे। पहले की रचना धार्मिक थी, दूसरी

साधारण जनसमाज के लिए कहानी के रूप में थी। दोनों रचनाएँ अपने समय की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती हैं। मध्य वर्गीय जनता जहाँ एक ओर अभी तक धर्मप्राण थी वहाँ उसमें दूसरी ओर लौकिक दृष्टिकोण पैदा हो रहा था। मुसलमानी राज्य के पतनकाल में मनोविनोद की प्रवृत्ति बढ़ रही थी और लोग दूषित और हलके कुतूहल में आनन्द लिया करते थे।

इन स्वतंत्र लेखकों के बाद हम पहली बार हिंदी गद्य का सुसंगठित प्रयोग देखते हैं। यह दो रूपों में हमारे सामने आता है—एक तो अधिकारियों द्वारा फोर्ट विलियम के माध्यम से और दूसरे ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा। फोर्ट विलियम के अधिकारी शासन से संबन्धित थे। उनका उद्देश्य "Civilians" को ऐसी भाषा का अध्ययन कराना था जिसका प्रयोग वे उत्तरी भारत के राजकीय काम में संपर्क में आने वाली मध्यवर्गीय जनता में कर सकें।

इस समय तक फ़ारसी और उर्दू हिंदी की अपेक्षा अधिक समझी जाती थी। इसलिए अधिकारियों का ध्यान पहले उर्दू की ओर गया। यह अवश्य है कि उन्होंने "भाषा" के प्रयोग की आवश्यकता समझी क्योंकि जनता का जो वर्ग मुसलमानों के संपर्क में नहीं आया था, उससे उर्दू द्वारा काम निकालना असंभव था। अधिकारियों के सामने खड़ी बोली गद्य अधिक प्रयोग में नहीं आता था; अतः जब उन्होंने "भाषा" में रचनाएँ कीं तो वे समझे कि एक नई भाषा की नींव डाल रहे हैं। जॉन गिलक्रिष्ट ने अपनी भूमिकाओं में इस बात का उल्लेख किया है और इन्हीं के आधार पर उर्दू लेखक कहते हैं कि हिंदी गद्य उर्दू गद्य से फ़ारसी शब्दों को भी हटा कर और उस पर संस्कृत का आरोपण करके बनाया गया है। सच बात यह है कि यह भ्रांति के लिए स्थान है क्योंकि फोर्ट विलियम के हिंदी लेखकों के आगे अधिक प्रौढ़ उर्दू का नमूना था। फोर्ट विलियम में जहाँ उर्दू के १०-१२ लेखकों के नाम मिलते

है, वहाँ हिंदी के केवल दो पाये जाते हैं। ये लेखक लल्लूलाल और सदल मिश्र हैं। कुछ दिनों बाद शासकों ने राजकीय कार्य का माध्यम अंग्रेज़ी बना दिया और बंगालियों को एतदर्थ दीक्षित किया। फोर्ट विलियम के अधिकारियों ने देखा कि उनकी आवश्यकता नहीं रही, अतः कालेज बंद कर दिया गया।

फोर्ट विलियम के गद्य के साथ ईसाई पादरियों का गद्य भी चलता रहा। हिंदी गद्य के इतिहास के लिए ईसाइयों का गद्य महत्वपूर्ण है। जहाँ अधिकारियों का संपर्क मध्यवर्गीय जनता से था, वहाँ इनका संबन्ध निम्न वर्ग से था। इसलिए उन्हें वह भ्रांति नहीं हुई जो फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों को हुई। मध्यवर्ग का पेशा नौकरी था और वह उर्दू भाषा और साहित्य से परिचित था। निम्नवर्ग वाणिज्य, व्यवसाय और कृषि करता था। यह स्थानीय भाषाओं को व्यवहार में लाता था परन्तु इस समय पश्चिम की बड़ी-बड़ी इस्लामी मंडियाँ और नगर उजड़ चुके थे और व्यवसायी पूर्वी प्रदेशों में फैल गये थे। अतः ये अपने साथ अपनी पश्चिमी खड़ी बोली भी लाये थे। वही बोली धीरे-धीरे वाणिज्य-व्यवसाय में जन-साधारण की व्यापक भाषा का रूप ग्रहण करने लगी। ईसाइयों ने देखा कि अधिकांश जनता हिंदू है और उन्होंने इसी व्यापक भाषा को प्रचार का माध्यम बनाया। १८०६ ई० में जो बाइबिल के अनुवाद प्रकाशित हुए वे ठेठ बोलचाल की भाषा में थे। बाद की भाषा पर लल्लूलाल के प्रेमसागर की भाषा का प्रभाव दिखलाई पड़ता है परंतु ये आरंभ के अनुवाद उस समय की ठेठ व्यापक हिंदी का रूप हमारे सामने रखते हैं।

फोर्ट विलियम कालेज और ईसाई पादरियों के बाद हिंदी गद्य साहित्य तीन प्रकार से निर्मित हुआ—(१) पाठ्य पुस्तकों द्वारा (२) धर्म प्रचार द्वारा (३) जन-साधारण की अभिरुचि को संतुष्ट करने वाली कथा कहानियों द्वारा। सबसे पहली पाठ्य पुस्तकें श्रीरामपुर के पादरियों

ने अपने स्कूल के लिये बनाईं। फोर्ट विलियम कालेज की पाठ्य-पुस्तकें इनके पहले सामने आ गईं थीं परंतु वे साहित्यिक पुस्तकें थीं। पादरियों की आगरे वाली शाखा ने भिन्न-भिन्न विषयों पर भी पाठ्य पुस्तकें लिखाईं इसी समय युक्त प्रान्तीय सरकार ने अपने प्राइमरी स्कूलों में हिंदी का चलन किया और स्वतंत्र रूप से पाठ्य-पुस्तकें लिखी जाने लगीं। प्रांत भर में पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन के कई केन्द्र हो गए और धन के लोभ से अनेक अच्छे लेखकों की शक्तियाँ इधर जाने लगीं। इन पाठ्य पुस्तकों का महत्व इतना ही है कि इन्होंने हिन्दी गद्य प्रचार में सहायता दी और पहली बार विषय की विभिन्नता की ओर ध्यान आकर्षित किया।

परंतु सबसे अधिक हिंदी गद्य का प्रयोग और विकास धर्म-प्रचार द्वारा हुआ। ईसाइयों का धर्मप्रचार हिंदी माध्यम द्वारा हो रहा था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप तीन शक्तियाँ क्षेत्र में आईं। वे थीं ब्रह्मसमाज, आर्य-समाज और सनातन हिंदू धर्म। सबसे पहले ब्रह्मसमाज का अभ्युदय हुआ। यह एक सुधार आन्दोलन था जो वैदिक ईश्वरवाद और औपनिषदिक सत्य को महत्व देता था। सन १८१९ ई० में राजाराम मोहनराय ने वेदांत सूत्रों का हिंदी अनुवाद किया। प्रचार संबन्धी अनेक पुस्तकें उन्होंने लिखीं। इन्होंने ही सन १८२९ ई० में 'बंगदूत' नाम का हिंदी समाचार पत्र निकाला और इस तरह हिंदी गद्य प्रचार में एक नई शक्ति का आविर्भाव किया। लगभग आधी शताब्दी तक ब्रह्मसमाज ने हिंदी गद्य को सहायता दी। पंजाब के नवीनचंद ने अनेक पाठ्य-पुस्तकें और धर्म पुस्तकें लिखकर उर्दू के गढ़ में हिंदी का प्रवेश कराया।

ब्रह्मसमाज आन्दोलन मुख्यतः पूर्वी भारत का आन्दोलन था। यह आन्दोलन यहीं पहले उठा इसलिए कि ईसाइयों का प्रहार पूर्व प्रदेश पर ही पहले हुआ। पश्चिमी प्रदेश में ईसाइयों के विरुद्ध

पहली प्रतिक्रिया मुसलमानों में हुई और तब लीग के आन्दोलन का जन्म हुआ। इसके कुछ समय बाद ही स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज को दो मोरचों पर लड़ना पड़ा। पश्चिमी प्रदेश में ईसाइयों की शक्ति इतनी अधिक नहीं थी जितनी प्रतिक्रियावादी लीगी मुसलमानों की। आर्यसमाज ने मुसलमानों और ईसाइयों द्वारा प्रचार रोकने के लिए शुद्धि और संगठन के आन्दोलनों को जन्म दिया। यह ध्यान देने की बात है कि आर्यसमाज आक्रमणकारी संस्था नहीं थी। ब्रह्मसमाज की तरह उसका उद्देश्य भी हिंदू जातीयता का पुनरुत्थान था। आर्यसमाज का आधार एकमात्र वेद था और उसने प्रगतिशील हिंदी समाज को जन्म दिया। स्वामी दयानंद और उनके शिष्यों ने हिन्दी को अपना माध्यम बनाया। ब्रह्मसमाज की भाँति आर्यसमाज भी मध्य-वर्गीय आंदोलन था और उसके मतावलंबी विद्वान बहुधा अरबी और फारसी के अच्छे ज्ञाता होते थे। उनके द्वारा हिंदी की पुष्टि बहुत शीघ्रता से हुई और शैली में पहली बार खंडन-मंडन के द्वारा बल आया।

रूढ़िवादी हिन्दू समाज ने आर्यसमाज आन्दोलन को सन्देह की दृष्टि से देखा और उसके विरुद्ध प्रचार की चेष्टा की। इस प्रकार की प्रतिक्रिया ने अनेक सनातनी कथावाचकों और व्याख्यानताओं को जन्म दिया इनमें सबसे महत्वपूर्ण पंजाब के श्रद्धाराम फुलौरी हैं। ये सनातनी नेता जहाँ एक ओर आर्यसमाज की प्रगतिशीलता का विरोध करते थे वहाँ दूसरी ओर इन्हें ईसाइयों और मुसलमानों के आक्रमण से आत्म-रक्षा के लिए तत्पर होना पड़ता था। उस समय का सनातनी साहित्य एक नये दृष्टिकोण को हमारे सामने रखता है।

इन धार्मिक धाराओं के साथ-साथ हिंदी का प्रचार बढ़ा और गद्यशैली में प्रौढ़ता आ गई। समय कुछ ऐसा था कि साहित्यिक प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में नहीं हुए। भारतेन्दु के पहले पाठ्य पुस्तकों की

छोड़ कर बहुत कम साहित्य संबंधी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। केवल दो साहित्यिक शैलीकार राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हमारे सामने आते हैं। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह तक आकर हिंदी गद्य ने बहुत कुछ स्थिरता और एकरूपता प्राप्त कर ली थी। साहित्य-क्षेत्र में कई शैलियाँ प्रसिद्ध हो चली थीं। जहाँ एक ओर राजा शिवप्रसाद उर्दू प्रधान भाषा का प्रयोग करते थे वहाँ राजा लक्ष्मण-सिंह और हिंदू जातीयता के पुनरुत्थान के समर्थक आर्यसमाजी और ब्रह्म-समाजी संस्कृत-प्रधान हिंदी को श्रेय देते थे। पाठ्य पुस्तकों के कारण विजय की अनेकरूपता भी सामने आई थी। हिंदी गद्य के क्षेत्र में अनेक शक्तियाँ काम कर रही थीं परंतु उन्हें एक केन्द्र पर लाने वाला कोई नहीं था। इसी समय भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु ने हिंदी गद्य की एक निश्चित शैली स्थिर की। यह शैली संस्कृत शब्दों के साथ बोलचाल के फ़ारसी शब्दों को भी पचा लेती थी। भारतेन्दु की प्रधान रचनाएँ इसी शैली में हैं। इनमें रस की दृष्टि से शैली का प्रयोग प्रथम बार हुआ है।

भारतेन्दु के बाद कोई एक प्रधान शक्ति गद्य क्षेत्र में नहीं रही। यह अवश्य था कि उनकी शैली का अनुकरण अनेक लेखकों ने सफलता से किया परंतु कुछ नेतृत्व के न होने और कुछ नवीन विकसित दृष्टिकोणों के कारण भारतेन्दु काल के लेखकों में वैयक्तिकता की मात्रा बहुत अधिक रही। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि साहित्य-क्षेत्र में अनेक शैलियों का जन्म हुआ परंतु एक हानि यह हुई कि एक व्यापक शैली कुछ दिनों के लिए नष्ट हो गई। इस समय की शैली की एक-रूपता का कारण पत्रों का विकास भी था। अधिकांश साहित्यकार अपना एक पत्र क्षेत्र में लाये। जो नहीं लाये वे भी पत्रों में लिखने लगे। इससे साहित्यिक विद्वेष और खंडन-मंडन को स्थान मिला। एक तरह से हिंदी के विकास के लिए यह आवश्यक भी था। १९वीं शताब्दी

के अंत तक पत्र-पत्रिकाओं का यह अनिश्चित क्रम जारी रहा। साहित्य में नेतृत्व करने वाला कोई न था। बंगला के अनुवाद आरंभ हो गये थे। साहित्य की शैली पर इन की भाषा का प्रभाव पड़ने लगा था और व्याकरण आदि के प्रयोग में अनिश्चितता आती जाती थी। अंग्रेज़ी, शिक्षा का प्रचार हो गया था और लेखक अंग्रेजियत की छाप हिंदी पर लगाने लगे थे। शैली की दृष्टि से आधुनिक काल का पूर्वार्द्ध कुछ अधिक श्रेयस्कर दिखाई नहीं पड़ता। यह अवश्य है कि पत्रकारों द्वारा हमें शैली के अनेक साहित्यिक प्रयोग मिलते हैं। अनेकरूपता और व्यंग-परिहास की दृष्टि से हिंदी गद्य कभी इतना प्रौढ़ और महत्वपूर्ण नहीं हुआ जितना वह आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध में था।

हिंदी-साहित्य में गद्य का महत्व १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आरम्भ हुआ परन्तु हमारे यहाँ पद्य का महत्व अधिक माना जाता था और इसीलिए गद्य को अपना स्थान बनाने में लगभग आधी शताब्दी का समय लगा। गद्य के विकास का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि सामयिक जीवन में काव्य का स्थान रह ही नहीं गया था। विज्ञान ने शंकालु हृदय उत्पन्न कर दिये थे और धार्मिकता का स्थान लौकिकता ने ले लिया था। आर्थिक समस्या बहुत महत्वपूर्ण हो गई थी और इसने साहित्यिकों के दृष्टिकोण में एकदम परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इसके अतिरिक्त पश्चिम से जो विषय हमें प्राप्त हुए और जीवन को देखने का जो दृष्टिकोण मिला, उनके लिए गद्य का आश्रय लेकर चलना आवश्यक था। इसी से आधुनिक काल में हम लौकिक साहित्य की सृष्टि देखते हैं। यह सब साहित्य गद्य में है और अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ है। हमारा साहित्य कभी भी इतने विभिन्न रूपों और माध्यमों में प्रकाशित नहीं हुआ था। प्रयोग की इस बहुलता के कारण शैलियों के अनेक भेद हो गये।

साहित्य के विभिन्न अंग अपनी अभिव्यक्ति के लिये विभिन्न शैलियाँ

चाहते हैं। नाटक और उपन्यास की शैली समान नहीं होती। इसी प्रकार उपन्यास और कहानी के आकार-प्रकार के अंतर से भाषा-शैली में भी भेद आ जाता है। किसी एक नाटक या उपन्यास में भी रसात्मकता और पात्रों के व्यक्तित्व की विभिन्नता के कारण लेखक को अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग करना पड़ता है। रस, पात्र, विवेचना और कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शैलियों के अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग हुए।

संक्षेप में, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में मोटे रूप से साहित्य में अभिव्यक्ति के दो ढंग थे। एक में साहित्यिकता की मात्रा अधिक थी और उसका प्रयोग मुख्यतः पाठ्य पुस्तकों और साहित्यिक लेखों में होता था। दूसरा ढंग पत्रकारों ने ग्रहण किया और धीरे-धीरे एक हिंदी उर्दू मिश्रित शैली विकसित की। इसमें उपयोगिता पर अधिक ध्यान रखा गया, साहित्यिकता पर कम। बाद में अनेक साहित्यिक आन्दोलनों के फलस्वरूप साहित्यिक और पत्रकार पास-पास आ गये और उनकी शैलियों में भी अधिक एकरूपता होती गई। इस एकरूपता का एक कारण यह भी था कि अधिकांश लेखकों को अपने साहित्य को पत्रद्वारा साधारण जनता के लिए प्रकाशित करना पड़ता था। साधारण जनता भी धीरे-धीरे साहित्यिकता की माँग करने लगी।

हिंदी का प्रारम्भिक गद्य धर्म प्रचार और खंडन-मंडन अथवा कथा-कहानी के लिए प्रयोग में आया। इस प्रकार के साहित्य में शैली के कई सूक्ष्म भेद पैदा हो सकते हैं। परन्तु समय की परिस्थिति और गद्य की बाल्यावस्था के कारण भेद अधिक स्पष्ट नहीं हो सके। प्रचार या अनुवाद के गद्य में कोई विशेषता नहीं; हाँ, कथा-कहानी का गद्य उर्दू की शैली पर चलने के कारण अलंकारपूर्ण और बहुधा तुकांत भी रहता। स्पष्ट है यह गद्य गंभीर साहित्य अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के

लिए काम में नहीं आ सकता। ईशा के गद्य पर उर्दू गद्य-रचना का प्रभाव स्पष्ट है। यदि इंशा ठेठ हिंदी लिखने में सतर्क रहते तो उनकी शैली कुछ और ही रहती। फिर भी उसमें मुहावरे हैं; चुस्ती है, कसावट है। उनके समकालीन लोगों ने संस्कृत तत्सम शब्दों और ब्रजबोली के गद्य के गठन का सहारा लिया। सच तो यह है कि उस समय तक हमारे गद्य ने अपनी दिशा समझ ली थी। परन्तु उसी समय विदेशी शासकों के शिक्षा-विभाग की नीति के कारण एक ओर तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा उठ खड़ा हुआ; दूसरी ओर एक विदेशी भाषा (अङ्गरेज़ी) का गद्य शिक्षितों के बोलने और लिखने में चल पड़ा। यदि ऐसा नहीं होता तो हमारे घर का गद्य आज तक कहीं अधिक विकसित हो गया होता। वह शिक्षितों द्वारा अछूता ही बना रहा।

बाबू हरिश्चन्द्र के समय भाषा के क्षेत्र में दो प्रधान शक्तियाँ काम कर रही थीं। एक फोर्ट विलियम कालेज का शिक्षा-विभाग था। दूसरे ईसाई पादरी (मिशनरी)। तीसरी शक्ति उस समय तो इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी परन्तु इसने शीघ्र ही प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया। वह शक्ति समाचार पत्र और मासिक पत्र थे। १८१८ ई० में फोर्ट विलियम कालेज की समाप्ति और मेकाले की शिक्षा-व्यवस्था का आयोजन होने के बाद ईसाई मिशनरी अङ्गरेजी में ही प्रचार करने लगे। इस प्रकार हिन्दी के विकास में सहायता देकर ये दो शक्तियाँ गिर गईं। इसके बाद भारतेन्दु के नाटकों और समाचार पत्रों का युग आता है। नाटकों ने गद्य-शैली को स्पष्ट, रसपूर्ण और बलशाली बनाने में बड़ा काम किया। समाचार पत्रों के द्वारा हमारे निबन्ध-साहित्य का श्रीगणेश हुआ। समय बदल रहा था। पुरानी संस्कृति और नई विदेशी संस्कृति में संघर्ष चलने लगा था। वह युग बड़ा अनिश्चित था। इसलिए समाज में एक उथल-पुथल थी। इसने हास्य, व्यंग, विनोद और परिहास के लेखक पैदा किये। बालकृष्ण

भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द जैसे शैलीकार इसी समय हुए और इनकी व्यक्तिगत शैलियों के बनाने में समाचार-पत्रों के अग्रलेखों का बड़ा हाथ था।

इस प्रकार की साहित्यिक उथल-पुथल के साथ आर्य समाज के कारण एक प्रकार से हिन्दू समाज सङ्गठित हो रहा था। इसके विरोध में मुसलमान तब लीग का प्रचार करने लगे थे। एक प्रकार की संकीर्ण सौहार्दयहीन मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई जिसके फलस्वरूप हिन्दी-गद्य-शैली का एक रूप संस्कृत-शब्दावली-प्रधान हो गया। आर्य समाज की चुनौती देने वाली मनोवृत्ति ने गद्य शैली के उस बलशाली, कभी-कभी गाली-गलौजपूर्ण, परन्तु बहुधा व्यंगात्मक रूप को जन्म दिया जो श्री पद्मसिंह शर्मा की गद्यशैली में सब से अधिक विकसित मिलता है।

निबन्ध-रचना के कारण लेखक विभिन्न विषयों की ओर जाते थे। इससे विषयों के अनुरूप शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करना पड़ता था। इस बात को हम श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी की इतनी परस्पर विभिन्न शैलियों से स्पष्ट कर सकते हैं। इससे हिन्दी की शैलियाँ अधिक वैज्ञानिक हो गईं। उनमें सूक्ष्म बातों को साफ़ ढङ्ग से रखने की शक्ति आई। उनकी अनिश्चितता नष्ट हो गई। वर्तमान हिन्दी गद्य के विकास में समाचार पत्र और मासिक पत्र विशेष रूप से सहायता दे रहे हैं।

देवकीनन्दन और किशोरीलाल के साथ हिन्दी-साहित्य के उपन्यासों का युग शुरू हुआ। उपन्यास बोलचाल की भाषा की ओर झुकता है। इसने उर्दू-मिश्रित उस प्रवाहमयी शैली को विकसित किया जो आज हिन्दोस्तानी कहला रही है। इस शैली के सब से प्रधान लेखक प्रेमचन्द थे। कांग्रेस आन्दोलन और राष्ट्रीयता की माँग के कारण इसके प्रचार में बहुत सहायता मिली। आज ललित साहित्य के लिए इसी भाषा-शैली का प्रयोग अधिक हो रहा है। परन्तु हमारी

गद्य-शैली के बनाने में उपन्यासों का बहुत बड़ा हाथ रहा। । यहा। हम यही कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि हमारे प्रधान शैलीकार अधिकतर उपन्यासकार या कहानी-लेखक हैं। इसका एक कारण तो यह है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की वहिर्मुखी प्रवृति के प्रति प्रतिक्रिया के कारण और कुछ अपनी अहमन्ता एवं संकीर्ण दृष्टि के कारण इधर के लेखकों की दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई है। पश्चिम के लेखकों के ढङ्ग पर मनोवैज्ञानिक शैलियाँ चल पड़ी हैं।

भाषा-शैली के क्षेत्र आज हिन्दी में जो अनेक प्रयोग हो रहे हैं उनका निदर्शन इन कुछ उद्धरणों से हो सकता है:—

१—सबल विचारात्मक शैली

'संगीत कविता का एक आवश्यक अङ्ग है और प्रायः यह देखा जाता है कि आगे बढ़ कर कविता तथा संगीत एक हो जाते हैं। संगीत और कविता में भेद केवल इतना है कि संगीत स्वर प्रधान है और कविता भावप्रधान है। पर यदि हम स्वरप्रधान संगीत में अच्छे-से-अच्छे भाव भर दें या भावप्रधान कविता में अच्छी से अच्छी स्वरलहरी पैदा कर सकें तो कविता तथा संगीत एक हो जाता है और वही काव्य या संगीत सर्वोच्च होगा। यह देखा जाता है कि कवि प्रायः अच्छा संगीतज्ञ होता है। संगीत का आधार होता है ताल अथवा गति, और यही आधार कविता का भी होता है। कहना तो यही पड़ेगा कि संगीत के विकास होने के पहले कविता का विकास हुआ क्योंकि जो कुछ गाया जाता है वह कविता का भाग है।

(भगवतीचरण वर्मा)

२—सबल भावात्मक शैली

"कौन कहता है तुम अकेले हो! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा

पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ! तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम अवतार नहीं हो सकते.?—समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो स्कंद, आसुरी वृत्तियों को नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ। आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा। और उस आर्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर!"

(जयशङ्कर प्रसाद)

३—सुष्ठु शैली

"रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य को उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में आने पर फुटकटिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबन्ध-कुशल कवि ही दिखाई देते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी को छोड़ हिन्दी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता"

(पं० रामचन्द्र शुक्ल)

४—अलंकारपूर्ण शैली

"वह अप्रतिम प्रतिमा, वसन्तकाल की नव किसलय कलित रसाल द्रुमावली सी वह प्रतिमा, प्रभातकालीन मलय-मारुत से ईषत् दोलायमाना मन्दस्मित नवनलिनी की सी वह प्रतिमा, वासन्ती संध्या समीरण-

जनित गङ्गा की कृश कल्लोल मालिका-सी वह प्रतिमा, जयदेव की कोमलकांत पदावली सी वह प्रतिमा" आदि।

(बाबू शिवपूजन सहाय)

५—प्रसादपूर्ण शैली

"यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य झोंपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर से पैसों की छोटी पोटली निकाली जो आज दिन भर की कमाई थी। तब झोंपड़ी की छान में से टटोल कर एक थैली निकाली, जो उसके जीवन का सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी जिसमें किसी के कान में भनक न पड़े। फिर थैली को छान में रख कर वह पड़ोस के घर से आग माँग लाया। पेड़ों के नीचे कुछ सूखी टहनियाँ जमा कर रक्खी थीं; उनसे चूल्हा जलाया। झोंपड़ी में हलका-सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडम्बना थी। कैसा नैराश्यपूर्ण दारिद्रय था। न खाट, न बिस्तर, न बर्तन, न भाँड़े।

(प्रेमचन्द)

६—प्रयत्नपूर्ण शैली

एक किताब है, गीता। ऊपर के तमाम (स—काम) आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े 'काम' की किताब है। मैं मूढ़-मति क्या उसे समझूँ। पर एक दिन साहसपूर्वक उठा कर खोलता हूँ, तो देखा, लिखा है 'कर्म करो। कर्म में अकर्म करो।'

यह क्या बात हुई। करना अकर्म है, तो वह कर्म में क्यों किया जाय ? और जब वह किया गया तो 'अकर्म' कैसे रह गया ? जो किया जायगा वह तो 'कर्म' कैसे रह गया ? जो किया जायगा वह तो 'कर्म' है उस कर्म को करते-करते भी उसमें 'अ-कर्म' कैसे साधा जाय ?

और गीता कहती है,—उस अकर्म की साधना ही एक कर्म है—यह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझ में क्या आवे। दुनिया तो कर्मयुतों की है। आप कर्मण्य हैं—आप धन्य हैं। तब, क्या कृपा कर मुझ दयाराम को भी अपने कर्म का भेद बताएँगे?

(जैनेन्द्र)

७--मनोवैज्ञानिक शैली

सत्य फिर चेष्टा करता है। उसके लिए, वह बहुत धीमे स्वर में उस मुख की एक-एक विशेषता का वर्णन करता है, और उसे ध्यानावस्थित करके उसे मूर्त आकार देने की चेष्टा करता है।

बिखरे हुए केश, रङ्ग—न साँवला न गोरा, कुछ साँवलेपन की ओर अधिक; गठन—न सुन्दर न कुरूप, किन्तु एक अनिर्वचनीय लुनाई लिए हुए; भँवें—मानो एक दूसरे को छूने के लिए बाँहें फैला रही हों; आँखें—आँखें तो सोची ही जा सकती हैं, शब्दों में बँध नहीं सकतीं; नाक—छोटी, सीधी, ओठ खुले; निचला ओठ कुछ भरा हुआ, कोने खिंचे और कुछ नीचे झुके हुए; कान के पास—क्या तिल! और ठोडी—

खाक-धूल! सत्य का कल्पना-क्षेत्र तो वैसा ही शून्य है!...

वह झुँझला कर सोचता है, इस विषय को भुला दूँगा। वह मुँह फेर कर सड़क पर भागती लारी के इञ्जन के बानेट (शीर्ष) पर लगे हुए गरुड़-चिह्न की ओर देखने लगता है।

(अज्ञेय)

८--चित्रात्मक शैली

वह एक विशाल भवन था। बहुत ऊँचा और इतना लम्बा-चौड़ा कि झूले पर बैठ कर खूब पेंग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियें

में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था। पर चित्रों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है। पौदों, झाड़ियों और लताओं में उसे यमुनातट का कुंज-सा बना दिया था। कई हिरन और मोर इधर-उधर विचरा करते थे। पानी का रिमझिम बरसना, ऊपर से हलकी-फुलकी फुहारों का पड़ना, हौज़ में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना, किसी उपवन की शोभा दरसाता था।

(प्रेमचन्द)

९—काव्यात्मक शैली

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित मूर्च्छित दिन मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ कंपित करों वाला व्यथित बुढ़ापा नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं। शक्ति नहीं, उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या मूल्य मिलता है। सर्वनाश ! पतन !!

(उग्र)

२

हिन्दी गद्य का इतिहास

(क) उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व

हिन्दी गद्य का इतिहास उतना पुराना नहीं है जितना हिन्दी पद्य का। गद्य प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु है। उसमें इतनी काव्योपादेयता नहीं होती कि वह सहस्रों मनुष्यों को आकर्षित कर सके अथवा सरलता से कंठगत हो सके। फिर भी प्राचीन हिन्दी गद्य के नमूने के रूप में बहुत-सी सामग्री हमें प्राप्य है। ६४३ ई० और १३४३ ई० के बीच में हमें राजस्थानी गद्य के दर्शन होते हैं। पृथ्वीराज के समय की कुछ सनदें आदि भी प्रकाशित हुई हैं। पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा उनकी सत्यता में सन्देह करते हैं और उन्हें बाद के समय का बताते हैं। हिन्दी के सब से प्राचीन लेखक गोरखनाथ हैं। इनके समय के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। मिश्रबन्धु इनका समय १३५० ई० मानते हैं, परन्तु आधुनिकतम खोजों से यह ६४३ ई० सिद्ध होता है।

हिन्दी गद्य के इस प्रारम्भिक उत्थान के बाद उसका दूसरा काल शुरू होता है। इसका समय १३४३ ई० से १६४३ ई० तक है। इस समय काशी और ब्रज साहित्यिक केन्द्र थे। अवधी गद्य बहुत कम मिलता है, परन्तु ब्रजभाषा गद्य में कुछ धार्मिक ग्रन्थ अवश्य लिखे गये। खड़ी भाषा (बोली) का प्रारम्भ भी हो गया था और मुसलमान और सन्त उसमें रचनाएँ भी करते थे। परन्तु भक्तों को तो राम-कृष्ण की कथाएँ कहनी थीं, वे इस भाषा में नहीं कही जा सकती थीं।

यद्यपि खड़ी बोली एक प्रान्त विशेष के हिन्दुओं की ही बोली थी, परन्तु मुसलमान शासकों द्वारा अपनाये जाने के कारण हिन्दुओं ने उसका बहिष्कार किया।

ब्रजभाषा गद्य में विट्ठलनाथ का शृंगार रस मंडन, गोकुलनाथ के किसी शिष्य की ८४ वार्ता और २५२ वार्ता, नन्ददास की विज्ञानार्थ प्रवेशिका, नासिकेत पुराण भाषा और अष्टयाम (१६००) सोलहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। १७ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा गद्य का एक नमूना तुलसीदास का 'पंचनामा' है जो १६१२ ई० में लिखा गया है। ओरछा-निवासी बैकुंठदास (आ० १६१८-१६२४) ने बैकुण्ठ माहात्म्य और अग्रहण माहात्म्य की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों पर खड़ी बोली की छाप है। १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'भुवनदीपिका' (१६१४) और 'विष्णुपुरी' (१६३३) लिखे गये। इन ग्रन्थों और लेखकों के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य के अन्य ग्रन्थ और लेखक भी हैं। गद्य के इस दूसरे उत्थान-काल में खड़ी बोली गद्य भी गद्य-लेखकों के प्रयास से अछूता न रहा। अकबर के दरबारी कवि गंग भट्ट ने 'चन्द छंद बरणन की कथा' लिखी। यह खड़ी बोली गद्य की पहली रचना है। इस समय राजस्थानी गद्य भी लिखा गया।

१६४२ ई० से १८४३ ई० तक ब्रजभाषा और राजस्थानी में गद्य का निर्माण होता रहा, परन्तु इस समय की रचनाओं में से अधिकांश लोप हो गई हैं। इनकी भाषा शिथिल है और उसे साहित्यिक गद्य नहीं कहा जा सकता। इस समय का सब से महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'अब्दुलफ़ज़ल' की 'आईने-अकबरी' का अनुवाद है। दामोदरदास दादूपंथी ने ब्रजभाषा गद्य में मार्कंडेय पुराण नाम भाषा का ग्रन्थ लिखा। सुरति मिश्र (आ० १७१०) ने बैतालपचीसी और आगरा नारायणदास ने 'भक्तमाल प्रसंग' की रचना की। हीरालाल ने आईने-अकबरी की भाषा-वचनिका लिखी। अन्य लेखक भी हैं जैसे मनोहरदास निरञ्जनी

(आ० १६५०), हेमराज पांडेय, भगवान मिश्र मैथिल और रामचन्द्रदास (१०८७)। इस समय की ब्रजभाषा-गद्य की अन्य रचनाएँ नासिकेतो पाख्यान (१७४७ से पहले), भूगोल पुराण (१७०५ के पहले), हितोपदेश और "ग्रन्थावली ग्वालेरी भाषा में" हैं। रीवा के महाराज विश्वनाथ (१७३१-१७८०) ने अपने हिन्दी के सर्वप्रथम नाटक आनन्द रघुनन्दन में ब्रजभाषा का प्रयोग किया। राजस्थानी गद्य में भी काम होता रहा। १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में "मुहणौत नैनसी की ख्यात" की रचना हुई। १६५८ ई० में खिड़िया जागो ने 'रावरतन महेश देवोत्तरी' वचनिका लिखी। बाँकीदास (१७८१—१८३३) ने ऐतिहासिक कथाओं का एक संग्रह 'अमीया चारण बाँकी दास की' और 'जोधपुर राठौर की ख्यात' की रचना की। खड़ी बोली में मडोवर और चकत्ता की बादशाही की परम्परा (१७५३ ई०) नाम के ग्रंथ पाये जाते हैं। इनके लेखकों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। १७६० ई० के पहले की खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी की एक रचना 'कुतबदी साहिबज़ादा की बात' है।

(ख) उन्नीसवीं शताब्दी का गद्य

१६ वीं शताब्दी का बहुत कुछ साहित्य सामने नहीं आया है। जो आया है, वह साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसे ही उत्तरार्द्ध के लेखकों के लिए भूमि तैयार करने का श्रेय प्राप्त है। अनेक लेखकों और परिस्थितियों में से निकल कर खड़ी बोली हिंदी इस योग्य हुई कि उसमें मौलिक रचना की जा सके और साहित्य-सृजन हो। पूर्वार्द्ध के मुख्य लेखक इंशा, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल हैं। इन पचास वर्षों में हिंदी समाचार पत्रों ने गद्य के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। उस समय का गद्य मुख्यतः धर्म प्रचार, पाठ्य पुस्तकों, समाचारपत्रों और ज्ञान-विज्ञान के लिये लिखा गया।

इससे जनता के ज्ञान में वृद्धि हुई। सच तो यह है कि उस समय जनता नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने की इच्छुक थी और पूर्वार्द्ध ने गद्य ने उसकी इच्छा को पूरा किया।

पूर्वार्द्ध में हिंदी भाषा के प्रचार और गद्यशैली के विकास में यूरोपियन लेखकों का महत्वपूर्ण हाथ रहा। परन्तु उन्होंने सीमित क्षेत्र में काम किया। ईसाई मिशनों का नाम शताब्दी के आरंभ से ही शुरू हो गया था, परन्तु उसकी गति बहुत धीमी रही। १८१३ ई० से ईसाई पादरियों ने अंजील आदि के अनुवाद उपस्थित करके हिंदी भाषा के प्रचार में विशेष रूप से भाग लिया। फोर्ट विलियम कालेज का काम विशेष स्थायी नहीं है। उसका महत्व इतना ही है कि वहाँ से कुछ कोष और व्याकरण प्रकाशित हुए जिनमें पहली बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया गया है।

भाषा का प्रयोग अनिश्चित है। अधिकांश लेखक पंडिताऊ भाषा लिखते हैं। लल्लूजी की भाषा का ईसाई पादरियों पर प्रभाव पड़ा। परन्तु हिंदी लेखकों ने उनका अनुकरण नहीं किया। पहले यह भाषा केवल पंडित वर्ग में प्रयोग में आती थी, परन्तु जब पंडित वर्ग से बाहर निकली तो संस्कृत शब्दावली और पंडिताऊपन को धीरे धीरे छोड़ने लगी। काव्य में गीति (शृंगार), वीर, भक्ति की धाराएँ चल रही थीं। काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी। पूर्वार्द्ध के गद्य पर नवीन युग का प्रभाव है, परन्तु कविता पर इस प्रकार का कोई प्रभाव नहीं। प्राचीन रूढ़ियाँ और परम्पराएँ चल रही हैं। इस समय का गद्य नये विषयों और नई शैलियों को लेकर चलने लगता है परन्तु पद्य प्राचीन वातावरण में ही साँस लेता है। राजदरबारों से हटकर वह अभी जनता के सामने नहीं आया है। इसी कारण न उसमें मौलिकता है न सजीवता। पूर्वार्द्ध का साहित्य पाठ्यपुस्तकों, विवरण-पत्रिकाओं, अनुवादों आदि तक सीमित है। उसमें जीवनी, उपयोगी साहित्य,

इतिहास आदि का पता नहीं। विज्ञान संबन्धी पाठ्य-पुस्तकें अवश्य मिलती हैं।

(१) पूर्वार्द्ध

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध गद्य के जन्म और विकास के लिये महत्वपूर्ण है। इससे पहले, जैसा हम दिखा चुके हैं, गद्य-साहित्य का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। मैथिली, ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ी में बहुत-सी रचनाएँ इस शताब्दी के पहले की मिलती हैं। परन्तु वास्तव में इस शताब्दी से पूर्व का गद्य साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत और विदेशी भाषाओं के अध्ययन की प्रधानता, अशान्तिपूर्ण परिस्थिति और आवागमन के साधनों का अभाव, काव्य की लोकप्रियता और भावों तथा विचारों में अनेकता का अभाव कुछ ऐसे कारण थे जिन्होंने गद्य के विकास में बाधा डाली। इस समय जो गद्य लिखा गया वह केवल टीकाओं और धर्म-प्रचार करने के लिए लिखा गया। मध्ययुग का साहित्य मुख्यतः काव्य-साहित्य है, परन्तु उस समय लोग संस्कृत भाषा और साहित्य से विमुख हो रहे थे और धर्म और दर्शन लोकोन्मुख थे, अतः गद्य का निर्माण प्रचुर मात्रा में हो सकता था, परन्तु काव्य के प्रयोग की कुछ ऐसी रूढ़ि हो गई थी कि उसी का प्रयोग हुआ, यहाँ तक कि उपयोगी साहित्य भी काव्य के रूप में सामने आया। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य लिखना सरल भी था। पद्य की भाषा और शैली परिमार्जित हो चुकी थी और लेखक बड़ी सरलता से अपने विचारों को पद्य में प्रगट कर सकते थे।

इस समय गद्य को ख्याति दे के कई साधन उपस्थित हो गये थे। समाज-सुधार आन्दोलन ने नये विचारों और भावनाओं को जन्म दे दिया था। हिन्दी के बहुत से लीथो आदि टाइप प्रेस खुले हुए थे और उनमें से कई समाचारपत्रों का प्रकाशन करते थे। कुछ ऐसी संस्थाओं का जन्म हो गया था जो स्वार्थ-वश ही सही, हिन्दी भाषा

और नागरी लिपि को अपनाने लगी थीं। इन संस्थाओं ने धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों और पाठ्य पुस्तकों का हिन्दी रूप दिया अथवा इन पर स्वतन्त्र रचना की। पादरियों के मिशन, राजा राममोहन राय, और केशवचंद्र सेन का ब्रह्म समाज, और स्वामी दयानन्द का आर्य समाज, धर्म और समाज को लेकर वाद-विवाद करने पर तुले थे और इनके द्वारा हिन्दी गद्य की वृद्धि स्वाभाविक थी। अन्य भौतिक कारण भी थे। आवागमन के साधन बहुत अच्छे थे। राष्ट्रीयता के विकास ने हिन्दू-मुसलमानों को एक रङ्गमंच पर खड़ा किया था। अंतिम बात यह है कि जनता अपने अधिकारों के प्रति सतर्क होने लगी थी।

१८१५ ई० में राजा राममोहनराय ने वेदांत-सूत्र का हिन्दी अनुवाद किया। १८२४ ई० में गोराबादल की कथा का राजस्थानी गद्य से खड़ी बोली गद्य में अनुवाद हुआ।

१४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ईसाई मिशनों का काम भी महत्वपूर्ण है। सब से महत्वपूर्ण मिशन जिसका सम्बन्ध हिन्दी से है, श्री रामपुर का डेनिकल मिशन है। यहीं पहला हिन्दी प्रेस स्थापित हुआ जिसका सम्बन्ध केरी और मार्शमैन से है। केरी के उत्साह से १७४५ ई० में एक स्कूल भी खुला। १८०० ई० तक श्री रामपुर में बहुत से स्कूल खुल गये। १८१८ ई० में इनकी संख्या १२६ थीं। इनमें पाठ्य पुस्तकों और शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

इन मिशनों ने बाइबिल (अंजील) के बहुत से अनुवाद प्रकाशित किये। यह अनुवाद का काम १८०६ ई० से ही शुरू हो गया था। १८१६ ई० तक 'नया अंजील' (New Testament) संपूर्ण प्रकाशित हो गया। १६०६ ई० में न्यू टेस्टामेंट प्रकाशित हुआ था और १६१८ ई० में 'ओल्ड टेस्टामेंट' को मिलाकर पूरा बाइबिल प्रकाशित किया गया। इन अनुवादों की भाषा खड़ी बोली हिन्दी थी: हिन्दी से मिशनरियों का तात्पर्य इसी बोली से था। उन्होंने हिन्दी

बोलियां (व्रज, अवधी आदि) में भी साहित्य प्रकाशित किया। यह सब साहित्य प्रचार के लिए बंगाल से लेकर पंजाब तक मुफ्त बाँटा गया। आगरा और इलाहाबाद के मिशनों ने भी काम किया। इन केन्द्रों से भी बड़ा साहित्य प्रकाशित हुआ। उन्होंने कुछ बाहरी प्रकाशन संस्थाओं को भी सहायता दी, जैसे आगरा की स्कूल बुक सोसाइटी को।

१६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गद्य के क्षेत्र में विशेष रूप से काम हुआ। यह काम इन्शाउल्ला खाँ, राजा राममोहनराय और युगलकिशोर के गद्य से शुरू हुआ। इन्होंने फोर्ट विलियम कालेज से बाहर रह कर हिन्दी गद्य को पुष्ट किया। इसके अतिरिक्त मुं० सदासुखलाल 'नियाज़' का नाम भी उल्लेखनीय है।

वेल्ज़ली के समय (१७६८-१८०५) के कुछ पहले ही सर विलियम जोन्स (१७४६-१७६४) योरोप को संस्कृत से परिचित करा चुके थे। इस परिचय के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान के अध्ययन में क्रान्ति हो गई और विद्वानों का ध्यान भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की ओर गया। परन्तु भारतीय प्रान्तीय भाषाओं (देशी बोलियां) को महत्व वेल्ज़ली ने दिया। अंगरेज़ी राजसत्ता के स्थापित होने के बहुत समय बाद तक उसके अधिकारियों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि भारतीय भाषा का ज्ञान प्राप्त करें। कम्पनी के नौकर कभी-कभी कामचलाऊ देशी भाषा सीख लेते थे।

१५ जनवरी १७८४ को ऐशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई और उसके द्वारा पूर्वी भाषाओं की खोज शुरू हुई। इस सोसाइटी से सम्बन्धित अनेक ऐसे विद्वानों ने महत्वपूर्ण काम किया जो पूर्व के साहित्य से परिचित थे। वारेन हेस्टिंग्स ने उन्हें बहुत सहायता दी। इन विद्वानों में एक विद्वान डा० जोन वार्थविक गिलक्रिष्ट थे जो १७८२ ई० में भारतवर्ष आये। इन्होंने १७८७ ई० में इङ्गलिश एन्ड

हिन्दुस्तानी डिक्शनरी लिखी। कम्पनी के नौकरों को हिन्दुस्तानी सीखने में इस ग्रन्थ ने बड़ी सहायता दी। १७६० ई० में गिलक्रिष्ट ने इस काम के लिए एक पाठशाला खोली। उस समय कितने ही अफ़सरों ने खड़ी हिन्दी सीखी, विशेष कर फ़ौज़ी अफसरों ने। कुछ ने ब्रजभाषा भी सीख ली। अफ़सर लोग सिपाहियों के सम्पर्क में आकर उनकी बोलियाँ भी सीख जाते थे।

वेल्ज़ली ने कम्पनी के नौकरों के लिए १७६८ ई० की एक विज्ञप्ति के अनुसार देशी भाषा का ज्ञान आवश्यक कर दिया। इस ज्ञान के बिना कम्पनी किसी भी व्यक्ति को नौकर नहीं रखती थी। १७६४ ई० के अपने एक पत्र में वेल्ज़ली ने हिन्दुस्तानी शिक्षा प्रदान करने के लिए एक कालिज खोलने की बात लिखी है। १८०० ई० में कालिज की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य कम्पनी की जड़ें मज़बूत करना था। कम्पनी जानती थी कि वह मुग़लों के साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी होने वाली है। यह उसकी दूरदर्शिता थी कि उसने ऐसा प्रबन्ध करना चाहा कि उसके नौकर उस भाषा से परिचित हो जायें जिसे वे लोग बोलते हैं, जिन पर उन्हें शासन करना है। यह कालेज फ़ोर्ट विलियम कालेज था। वेल्ज़ली ने कम्पनी के डायरेक्टरों से सहायता चाही, परन्तु उन्होंने १८०२ ई० में उसकी स्कीम को ही रद्द कर दिया। इसका कारण यह नहीं था कि कम्पनी इस आवश्यकता को नहीं समझती थी। बात यह थी कि कम्पनी के अधिकारी वेल्ज़ली की पालिसी से प्रसन्न नहीं थे और उन्हें उसकी प्रत्येक बात बुरी लगती थी। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से इसी काम के लिए इङ्गलैंड के हेलोवरी स्थान पर १८५० ई० में ईस्ट इण्डिया कालेज खोला। डायरेक्टर आप इसकी देखभाल करते थे। उन्होंने फ़ारसी, संस्कृत और अरबी के अध्ययन को अधिक महत्व दिया। भारत से दूर होने के कारण वे भाषाओं-सम्बन्धी सच्ची स्थिति से परिचित नहीं थे।

परन्तु वेल्ज़ली की संस्था छोटे पैमाने पर फिर भी काम करती रही। उस समय जो सब से अच्छे पंडित और मुंशी कम्पनी को मिल सकते थे, उन्हें कम्पनी ने फोर्ट विलियम कालेज में स्थान दिया। वेल्ज़ली के आग्रह पर डा० गिलक्रिष्ट को अपना सारा समय और ध्यान कालेज की ओर देना पड़ा। वे हिन्दुस्तानी भाषा के अध्यक्ष हुए। उनके नीचे पंडित और मुंशी रखे गये। पंडितों की संख्या बहुत कम थी और उनमें से अधिकांश का काम उर्दू अनुवादकों को सहायता देना मात्र था। कम्पनी 'भाषा' और 'हिन्दुस्तानी' दो भाषाएँ स्वीकार करती थीं। पिछली भाषा से उसका तात्पर्य उर्दू ही था। लल्लूजी लाल 'भाषा' के लिये और मौलवी हफीज़उद्दीन आदि हिन्दुस्तानी के लिए रखे गये। कालेज का काम २४ नवम्बर १८०० ई० को शुरू हुआ। साधारण पठन के काम के अतिरिक्त यह कालेज हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद भी चलाता था। इस विवाद में कालेज के पंडित और मुंशी तथा अन्य प्रोफेसर पक्ष अथवा विपक्ष में भाग लेते थे। १८०१ ई० के बाद से कोई भी आदमी कम्पनी में नौकर नहीं हो सकता था जब तक वह इस कालेज की क़ानून और भाषा की परीक्षाओं को पास न कर लेता।

फोर्ट विलियम कालेज ने अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। उसका उद्देश्य इन पुस्तकों को पाठ्य पुस्तकों के रूप में उपस्थित करना था। स्वयम् डा० गिलक्रिष्ट ने १८०१ ई० में एक संग्रह प्रकाशित किया जिसमें प्रेम सागर, बाग़ो-बहार, गुलबकावली, बैताल पचीसी आदि से लिए हुए पाठ थे। फोर्ट विलियम कालिज का ध्येय कम्पनी के लिए ऐसे नौकर तैयार करना था जो भारतीय रीति-रिवाज, साहित्य, कानून से थोड़ी बहुत परिचित हों। इसके लिए पद्य से काम नहीं चल सकता था। गद्य की आवश्यकता थी। हिन्दी गद्य असंघटित और अनिश्चित दशा में था। इसलिए गिलक्रिष्ट को ऐसे गद्य की आवश्यकता समझ

पड़ी जिसमें वे यह आवश्यक ज्ञान प्रदान कर सकें। उन्होंने पिछली राजसत्ता और पिछले शासक वर्ग एवं मध्य-वर्ग के सभ्य समाज की भाषा की ओर दृष्टि की। यह भाषा फ़ारसी या फ़ारसी प्रधान उर्दू थी। साधारण जनता से उन्हें कोई मतलब नहीं था। देश का जो समुदाय उनके सम्मुख था, वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, उसकी भाषा उर्दू थी। इसे ही गिलक्रिष्ट ने हिन्दुस्तानी कहा। 'भाखा' इससे अलग थी। उसका स्थान महत्वपूर्ण समझा गया। 'भाखा' सीखने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि कम्पनी के लोगों को शिक्षित सज्जनों के बाहर भी काम करना पड़ता और उनकी भाषा यही होती। परन्तु हिन्दुस्तानी कम्पनी की आवश्यकता को बहुत कुछ पूरा कर देती। अंगरेज़ अधिकारियों का काम जिन लोगों से पड़ता था उनमें वह मजे में चलती।

फोर्ट विलियम कालेज से हिन्दी खड़ी बोली में एक ही पुस्तक निकली—प्रेमसागर। इसकी शैली शिथिल है। भाषा ब्रजभाषा के मिश्रण से बिगड़ गई है। लल्लू लाल की 'राजनीति' शुद्ध ब्रजभाषा में थी। बैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी हिन्दुस्तानी (उर्दू या रेखता) में थी। अतः फ़ोर्ट विलियम कालेज को न हिन्दी गद्य-निर्माण का श्रेय दिया जा सकता है, न भाषा-निर्माण या प्रचार का। साहित्य की दृष्टि से प्रेमसागर महत्वपूर्ण नहीं है और प्रचार की दृष्टि से उसने हिन्दी लेखकों की शैली पर कोई भी प्रभाव नहीं डाला। अन्य भाषाओं की अपेक्षा फ़ोर्ट विलियम कालिज में हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम रही। उसका सब से महत्वपूर्ण कार्य कोष और व्याकरण का संकलन है। इनमें सब से महत्वपूर्ण काम गिलक्रिष्ट का ही है। उन्होंने १७९६ ई० में तीन भागों में 'हिन्दुस्तानी ग्रामर एवं डिक्शनरी' की रचना की और १७९८ ई० में ओरयन्टल लिंगुइस्ट नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें हिन्दुस्तानी व्याकरण पर विस्तृत भूमिका थी

और हिन्दुस्तानी में कहानियाँ, लेख, कथनोपकथन और शब्दकोष थे। कालिज खुल जाने पर उनका काम और भी तीव्रता से चलने लगा। उन्होंने ही पहली बार इन विषयों को वैज्ञानिक रूप से हमारे सामने रक्खा।

१८२५ ई० में ही फोर्ट विलियम कालिज के अधिकारियों ने अपने दृष्टिकोण की ग़लती को समझ लिया था। १८४१ ई० में बंगाल के गवर्नर ने नये नियम बनाये जिनके अनुसार हिन्दी को स्वतन्त्र रूप से स्थान मिला। परन्तु इस परिवर्तन से साहित्य को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। हिन्दी भाषा के विकास के लिए कालिज महत्वपूर्ण संस्था नहीं रह गया था। कालिज से कोई नया ग्रन्थ नहीं निकला। वही लल्लूलाल आदि के ग्रंथ पढ़ाये जाते थे और 'हिन्दुस्तानी' पुस्तकें हिन्दी के नाम पर चलती थीं।

विदेशी लोगों ने हिन्दी गद्य के परिमार्जन और प्रचार में जो काम किया उसका ऋण हमें स्वीकार करना चाहिये। यह काम कई रूपों में हमारे सामने आया। इनमें आगरा और कलकत्ता केन्द्र से किया हुआ काम विशेष महत्वपूर्ण है।

आगरा केन्द्र से हिन्दी प्रचार का काम आगरा स्कूल सोसा-इटी और आगरा कालिज द्वारा हुआ। आगरा कालिज १८२३ ई० में हिन्दू और मुसलमान नवयुवकों को फ़ारसी और हिन्दी परन्तु मुख्यतः संस्कृत और अरबी की शिक्षा देने के लिए खोला गया था। परन्तु इसके सुचारु रूप से संचालन में विशेष बाधा थी कि उस समय अच्छे पाठ्य ग्रंथ न थे और जो थे भी वे किसी प्रकार उन्नत न थे। इसलिए कालेज की कमेटी ने १८३३ ई० में आगरा स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना की और नई पुस्तकें लिखवाने और पुरानी पुस्तकों के संशो-धन का कार्य आरम्भ किया। इसका फल यह हुआ कि १८३८ ई० से १८५० ई० तक विभिन्न विषयों पर बहुत सी पाठ्य-पुस्तकें छपकर

सामने आईं। इनमें कुछ ये हैं—ग्रहमंडल का संक्षिप्त वर्णन, रेखा-गणित, पदार्थ विद्यासार, शिक्षा-संग्रह, मार्शमान साहब का हिन्दोस्तान का इतिहास, सभाविलास, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, भूगोल, दर्शन, मिस बर्ड का इङ्गलैंड का इतिहास, कहानियों की पोथी, आदम का व्याकरण, सतसई, सुदामा-चरित्र गीतावली, सतसई सटीक, पंडित रत्नेश्वर का लाहौर से बम्बई तक जाने का वर्णन, स्त्री-शिक्षा, इञ्जील, सुलेमान का गीत, मेंगनेतन साहब का धर्मशास्त्र। इन ग्रंथों का गद्य भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त निर्बल है, मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, कला के दर्शन नहीं होते। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उस समय गद्य धीरे-धीरे वैज्ञानिक विषयों को प्रगट करने लगा था और विषयों की विभिन्नता की ओर बढ़ रहा था।

एक दूसरी सोसाइटी नार्दर्न इण्डिया क्रिश्चियन टेक्स्ट बुक सोसाइटी १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्त में (३० जुलाई १८४८) आगरा में स्थापित हुई। इसी वर्ष एक दूसरी सोसाइटी बनारस में भी स्थापित हुई। कलकत्ता, मदरास और बम्बई में भी इसी प्रकार की सोसाइटियाँ काम करने लगीं। अगले ५० वर्षों में इन सोसाइटियों ने बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। श्रीरामपुर और आगरा में विशेष काम हुआ। इन सोसाइटियों ने अपना काम धर्म-प्रचार तक सीमित नहीं रखा वरन् ज्ञान और विज्ञान के साहित्य को भी जनता तक पहुँचाया।

(२) उत्तरार्द्ध

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी गद्य धार्मिक व्यवहार से बाहर निकल सका। इससे पहले का गद्य अधिकतः प्रचार मात्र के लिए था। वार्ताओं का गद्य इसी प्रकार का था। उसमें साहित्यिकता और शैली के विकास के लिए अधिक स्थान नहीं था। १६ वीं शताब्दी

पूर्वार्द्ध में गद्य का अनेक दिशाओं में विकास हुआ, अनेक संस्थाएँ और अनेक व्यक्ति उसकी वृद्धि में तत्पर हुए। विदेशी लेखकों, श्री रामपुर के पादरियों, फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, शिक्षा-विभाग और टेक्स्ट बुक सोसाइटी द्वारा हिन्दी गद्य अनेक प्रकार से पुष्ट हुआ, परन्तु इस सारे काल में भी हिन्दी गद्य प्रौढ़त्व को प्राप्त नहीं हो सका। पहले पूर्वार्द्ध में काम करने वाली अनेक शक्तियों का ह्रास हो चुका था। फोर्ट विलियम कालेज समाप्त हो चुका था। उसने हिन्दी गद्य पर विशेष प्रभाव नहीं डाला था। हाँ, उसके कार्य (विशेष कर लल्लूलाल के प्रेम सागर) ने ईसाई प्रचारकों के गद्य पर प्रभाव डाला। परन्तु साहित्य और प्रचार की दृष्टि से हिन्दी गद्य-विकास के लिए पादरियों का काम कोई महत्वपूर्ण नहीं है। जो हो, पूर्वार्द्ध में हिन्दी गद्य लिखने का चलन प्रारम्भ हो गया था और वह धीरे-धीरे ऐसी शक्ति हो गया था कि उसके प्रवाह को रोका नहीं जा सकता था। यह अवश्य है कि मैकाले की शिक्षा-नीति गद्य की उत्तरोत्तर वृद्धि में बाधक हुई। इसके अतिरिक्त स्वयं जनता की प्रवृत्ति गद्य की अपेक्षा पद्य की ओर अधिक थी; और इस प्रवृत्ति में एकदम परिवर्तन नहीं हो सकता था।

१९ वीं शताब्दी के दूसरे उत्तरार्द्ध में सरकारी नीति बदली। ग़दर के बाद अपेक्षाकृत अधिक शांति रही और संस्कृति एवं सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन शुरू हुए जिन्होंने गद्य के क्षेत्र में विशेष हितकारी प्रभाव डाला।

नवीन योजना का जन्म १८५४ ई० में हुआ। उसके अनुसार राज्य की ओर से भारत भर की भाषाओं के प्रारम्भिक स्कूल खुले। हिंदी प्रांत में जो स्कूल खुले उनमें शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी थी। उस समय राज्य (अंगरेज़ी राज्य) हिन्दुस्तानी का तात्पर्य उर्दू समझता था। उसके लिए दोनों पर्यायवाची शब्द थे। १८३७ ई० में

उर्दू ही कोर्ट की भाषा हो गई थी। इससे हिन्दी अक्षर भी धीरे-धीरे अपरिचित हो गये। अक्षरों के परिवर्तन के साथ मध्यवर्ग की उस जनता में जिसका सम्पर्क अदालतों से था, फ़ारसी और अरबी के शब्दों की एक बड़ी संख्या ने प्रवेश किया। इन सब बातों का फल यह हुआ कि उर्दू गद्य बड़ी शीघ्रता से परिमार्जित होने लगा और हिन्दू जनता उसे भी अपनाने लगी। नये स्कूलों में भी अदालत की भाषा को स्थान मिला क्योंकि जो पढ़ते थे उनका ध्येय नौकरी था।

इस परिस्थिति को बदलने में राजा शिवप्रसाद (१८२३-९५) का मुख्य हाथ था। वे स्वयं दूसरी सर्किल के इन्सपेक्टर थे और उन्हें सरकारी नीतिपालन करना आवश्यक था। परन्तु उनकी निरन्तर चेष्टाओं का फल यह हुआ कि हिन्दी लिपि को भी सरकारी क्षेत्र में स्थान मिला। वास्तव में आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन था क्योंकि लिपि अपनाना भाषा-क्षेत्र में सुधार का पहला क़दम होता है। लोग राजा शिवप्रसाद के अत्यन्त विरुद्ध हैं और उन्हें हिन्दी के हितों का विरोधी समझते हैं, परन्तु उन्हें समझना चाहिये कि उस समय हिन्दी गद्य उर्दू की तुलना में अत्यन्त अपरिपक्व था और उसे शिक्षा में स्थान मिलना अच्छा नहीं था। वह उपयोगी साहित्य को पढ़ाने के लिए उपयुक्त भी नहीं था। दूसरे राजा साहब का दृष्टिकोण मध्यवर्ग तक सीमित था और मध्यवर्ग नौकरियों की ओर झुक रहा था जिसमें अदालत की भाषा का प्रयोग होता था और स्वयं उसकी भाषा भी उर्दू-प्रधान थी। तीसरी बात यह थी कि यद्यपि हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों का अभाव नहीं था, फोर्ट विलियम कालेज के अन्तर्गत स्थापित टेक्स्ट बुक सोसाइटी ने और इसके अतिरिक्त पादरियों ने भी प्रचार की दृष्टि से पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की थीं, परन्तु मेकाले की शिक्षा-योजना ने पाठ्य पुस्तकों के निर्माण को धक्का अवश्य पहुँचाया था, जिसके कारण १८३७ ई० के बाद बहुत कम

हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों की रचना हुई और इस कारण नई शिक्षा-पद्धति के समय उर्दू में हिन्दी से अच्छी पाठ्य पुस्तकें थीं। जो पुरानी थीं भी, वे नई पद्धति में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती थीं।

राजा साहब ने जहाँ एक ओर सरकारी नीति का पालन किया वहाँ उन्होंने यह भी कहा कि जब तक कचहरी में फ़ारसी लिपि चलती है तब तक इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की चेष्टा व्यर्थ है। बाबू बालमुकुन्द के शब्दों में अदालत की भाषा उर्दू होने के कारण जो "लोग नागरी अक्षर सीखते थे वे भी फ़ारसी अक्षर सीखने के लिए विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू बन गई। ······हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।" सच तो यह है कि उस समय की परिस्थिति को देखते हुए शिक्षा-विभाग में उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग योजनाएँ सम्भव ही नहीं थीं क्योंकि हिन्दू और मुसलमान विद्यार्थी साथ-साथ पढ़ते थे। राजा साहब कदाचित् अदालत की भाषा के विषय में सतर्क थे। उन्होंने अदालतों में उर्दू के प्राधान्य के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई। परन्तु शिक्षा-विभाग के सम्बन्ध में उन्होंने सुधार-सम्बन्धी आवाज़ अवश्य उठाई। इतना होने पर भी उन्होंने सरकारी नीति का पालन करते हुए और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए अपनी भाषा को फ़ारसी-अरबी शब्दों से भर दिया। राजा साहब मध्यवर्ग के व्यक्ति थे और उनकी दृष्टि में यही वर्ग और उसकी भाषा महत्वपूर्ण थी। अतः उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि अदालत की भाषा सदैव ही सभ्यों की भाषा समझी जाती है। उस समय भी यही बात थी। अदालत की भाषा उर्दू थी और वही सभ्यों की भाषा समझी जाती थी। हिन्दी देहाती थी। उसमें ब्रजभाषा, अवधी और अन्य प्रान्तीय बोलियों का भी मेल था। साहित्य की भाषा अभी शुद्ध खड़ी नहीं हो पाई थी। राजा साहब ने उसे

बोलियों के मेल से पाक रखना चाहा। फ़ारसी शब्द हिन्दी कवियों ने ग्रहण कर लिये थे। उनको अपेक्षाकृत आवश्यकता भी कम थी। गद्य में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग अवश्य हो रहा था—इस समय इस बात की आवश्यकता थी कि सुधारवादी हठ को छोड़ दें और संस्कृत शब्दों के स्थान पर, कम से कम कुछ समय के लिए, फ़ारसी शब्द ही रखें। शायद इस आवश्यकता को समझते हुए राजा साहब ने सरकार से प्रार्थना की कि वह हिन्दी उर्दू पाठ्य-पुस्तकों की भाषा को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न करें। यह १८७६ ई० की बात है। सरकार ने उनकी बात मान ली, परन्तु हिन्दी के पक्ष में फल अच्छा न हुआ।

परन्तु न जाने क्यों, शायद संसर्ग-दोष से या भाषा सँवारने के विचार से उनकी हिन्दी में फ़ारसी शब्द उत्तरोत्तर अधिक घुसते गये और इस प्रकार उनके प्रारम्भिक विचारों और अंतिम विचारों में बड़ा मतभेद हो गया। हो सकता है उनके अधिक-अधिक फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पीछे हिन्दी के उपासकों के विरोध की प्रतिक्रिया हो। राजा साहब का जैसा तीव्र विरोध हुआ था, उसे देखते हुए यह बात असंभव भी नहीं है। वास्तव में राजा साहब की यह धारणा ही भ्रमात्मक थी कि कचहरी की भाषा ही आदर्श भाषा है और मध्यवर्ग ही भाषा का निपटारा करता है। उनका प्रधान उद्देश्य हिन्दी उर्दू के बीच की खाई को पाट कर हिन्दुस्तानी की सृष्टि करना था।

हम राजा साहब की कृतियों और विचारों में भाषा-सम्बन्धी अनेक वैषम्य देखते हैं, परन्तु यदि ध्यान दिया जाय तो इन विभिन्नताओं के कारण भी मिल जायेंगे। उन्होंने जो पुस्तकें साधारण जनता के लिए लिखीं और जिनका विषय धर्म था उनकी भाषा धार्मिक पारिभाषिक शब्दों और संस्कृति-मूलक प्रयोगों के कारण अवश्य ही संस्कृत-प्रधान होती। 'मानव धर्मसार' और 'योग-वाशिष्ठ' के कुछ चुने हुए श्लोकों की भाषा ऐसी ही है। यह बात इस तरह और भी

स्पष्ट हो जाती है कि जिन ग्रंथों का आश्रय धर्म नहीं है जैसे 'मानव-धर्मसार का सार' नाम की पुस्तक में, वहाँ भाषा हिन्दुस्तानी की ओर झुकी है। इस पुस्तक पर लल्लूलाल की प्रेमसागर-शैली का भी प्रभाव है और संस्कृत शब्दों के साथ ब्रजभाषा-रूप भी मिलते हैं। इसी ग्रन्थ की भाषा को सुधार कर के राजा साहब ने अपनी पाठ्य-पुस्तकों में प्रयोग किया है। भूगोल हस्तामलक, वामामनोरंजन और राजा भोज का सपना आदि पुस्तकों की भाषा को बोलचाल के निकट लाने और उसके द्वारा बालकों की 'बोलचाल' सुधारने का प्रयत्न किया गया है। एक ही पुस्तक में हिन्दी-उर्दू के साम्यवादी शब्द प्रयोग में आये हैं। १८५२ ई० की लिखी वैताल पच्चीसी की भाषा उर्दू है और वह तत्सम फारसी और अरबी शब्दों से भरी है। इसके बाद राजा साहब शीघ्र ही उर्दू को हिन्दी की जननी मानने लगे और आगे चल कर उन्होंने केवल दो प्रकार की भाषाएँ लिखीं—एक ठेठ हिन्दी बोलचाल जिसमें फारसी शब्द मिले थे और दूसरी भी फ़ारसी-प्रधान उर्दू जिसकी लिपि नागरी थी। इतना होने पर भी उन्हें पुस्तकें लिखते समय जो पुराने साहित्य से सम्बन्धित थीं, संस्कृत-प्रधान भाषा का ही प्रयोग करना पड़ा है। उनके गुटके की भाषा इस बात की साक्षी है। संक्षेप में, अनेक प्रकार की भाषा-शैलियाँ लिखते हुए भी राजा शिवप्रसाद का लक्ष्य एक ऐसी भाषा का निर्माण करना था जो हिन्दी और उर्दू के बीच में रहे, परन्तु परिस्थिति-वश उनके दृष्टिकोण को अहितकर समझा गया और उसका तीव्र विरोध हुआ।

राजा शिवप्रसाद का अनुकरण शिक्षा-विभाग से बाहर मुंशी देवीप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने किया। इन्होंने हिन्दुस्तानी को रूप देने की चेष्टा की और केवल प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया। परन्तु शिक्षा-विभाग में वीरेश्वर चक्रवर्ती जैसे व्यक्ति भी थे जिन्होंने राजा साहब की नीति नहीं अपनाई।

अलबत्ता राजा शिवप्रसाद की नीति का खूब विरोध भी हुआ और यह विरोध इतना बढ़ा कि वे देशद्रोही समझे जाने लगे और हिन्दी प्रेमी प्रचलित फ़ारसी-अरबी शब्दों को भी नमस्कार करने लगे। राजा लक्ष्मणप्रसाद (१८४६-१८९६) की भाषा राजा साहब की भाषा के ठीक विरोध में उपस्थित की जा सकती है। उसमें संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है और ब्रजभाषा का भी बहुत बड़ा पुट है। राजा लक्ष्मणसिंह उर्दू फ़ारसी के ज्ञाता थे, परन्तु वे इन भाषाओं के शब्दों के पूर्णतः बहिष्कार के समर्थक थे। इसका फल यह हुआ कि उनकी गद्य शैली में कृत्रिमता आ गई, यद्यपि संस्कृत का हिन्दी में लगाव होने के कारण भाषा एकदम ठस और अप्राकृतिक नहीं हो पाई। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा उस समय की सारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती थी। कानून, तर्कशास्त्र, ज्योतिष और राजनीति जैसे विषयों के लिए उनकी भाषा कहाँ तक उपयुक्त थी, यह विचारने की बात है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में ब्रजभाषा का मेल रहता था, जो खड़ी बोली गद्य को दूषित कर देता था। सामयिक हिन्दी जनता ने राजा लक्ष्मणसिंह की शैली को अधिक अपनाया। लेखकों ने संस्कृत शब्दों को ग्रहण किया और फ़ारसी शब्दावली को, जहाँ तक हो सका, बचाने की चेष्टा की। उन्होंने केवल बहुत ही प्रचलित फ़ारसी-अरबी शब्द अपनाये।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजा शिवप्रसाद जहाँ एक छोर तक पहुँच जाते थे, वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह दूसरी अति तक। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने मध्यमार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने दो तरह की भाषाएँ स्वीकार कीं—(१) जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं और (२) जो शुद्ध हिन्दी है। पहली प्रकार की भाषा का प्रयोग गम्भीर विवेचन और तत्त्वनिरूपण के लिए हुआ है। दूसरे प्रकार की भाषा अनेक शैलियों में व्यवहार में आई है। नाटकों में रस-निष्पत्ति

के लिए इसी का प्रयोग हुआ है। परन्तु भारतेन्दु ने भी संस्कृत शब्दों का खूब प्रयोग किया है। वास्तव में उन हिन्दी लेखकों को छोड़ कर जो उर्दू-फ़ारसी के ज्ञाता थे, अन्य के लिए संस्कृत के अधिक-अधिक शब्दों की ओर जाना स्वाभाविक था। अतः इस समय का झुकाव संस्कृत की ओर ही अधिक है। संस्कृत साहित्य के अनुवादों और आर्य समाज आन्दोलन में हिन्दी गद्य को संस्कृत शब्दावली से भर दिया। सैकड़ों ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनके स्थान पर ठेठ हिन्दी शब्द रखे जा सकते थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि लोग संस्कृत की ओर मुड़ रहे थे क्योंकि वह युग सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थान का युग था और उस समय का सुधारक वर्ग संस्कृत साहित्य के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान प्रेरित कर रहा था। जो हो, कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति बहुत हास्यास्पद हो गई।

एक बात और ध्यान देने की यह है कि इस सारे समय का गद्य ब्रजभाषा के रूपों से भरा हुआ है। वह आज जैसा परिमार्जित नहीं है। भारतेन्दु का गद्य भी ब्रजभाषा के पुट से मुक्त नहीं है और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु का गद्य उस समय के लेखकों के लिए आदर्श था।

१९ वीं शताब्दी के आरम्भ में अंगरेज़ी भाषा के शब्द हिन्दी में स्थान पाने लगे थे। उत्तरार्द्ध के अंत होते-होते सैकड़ों शब्द भाषा में प्रवेश कर गये थे। इन्होंने शब्दकोष में वृद्धि की और उसे बलशाली एवं पूर्ण तथा भाव प्रकाशन में समर्थ बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गद्य की अधिकांश रचनाएँ ज्ञानवर्धक हैं। इससे शब्द-कोष और अभिव्यंजना-शैली में वृद्धि हुई। यह हर्ष की बात है कि ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य हुआ, चाहे मौलिक रूप में, चाहे अंगरेज़ी से अनुवाद के रूप में। पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य की वृद्धि में, विशेषकर ज्ञानमूलक गद्य की, विशेष भाग लिया। यह सच है कि

इस समय का अधिकांश गद्य पाठ्य-पुस्तकों के लिए लिखा गया है। परन्तु इससे हमें इन लेखकों के उत्साह की सराहना करनी चाहिये जिन्होंने विरोधी परिस्थितियों में अनेक क्षेत्रों में काम किया। ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन इन्हीं की रचनाओं के सहारे बढ़ा। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता न केवल साधारण जीवन के लिए वरन् परिमार्जित गद्य के लिए आवश्यक थी, वह दृष्टिकोण इसी अध्ययन के कारण विकसित हुआ। यह दृष्टिकोण मौलिकता-मूलक था और इसे पश्चिम से उत्साह मिलता था, परन्तु इसके कारण ही पद्य की अपेक्षा (जो अब तक हिन्दी साहित्य में प्रधान रहा था) गद्य को स्थान मिला और उसमें बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा हुई।

इस उत्थान में लेखकों का ध्यान प्राचीन भारतीय इतिहास की ओर विशेष रूप से गया और कितने ही साहित्यिकों ने, यहाँ तक कि उपन्यासकारों ने भी इसी के आधार पर रचनाएँ कीं एवं ऐतिहासिक खोजों से अपनी रचनाओं को पुष्ट किया। इस क्षेत्र में सर्व प्रथम भारतेन्दु आते हैं। प्राचीन भारत की सच्ची परिस्थिति का पता लगाने और नाटकों तथा उपन्यासों के द्वारा उसका निर्माण करने की चेष्टा बराबर चलती रही। कदाचित् इसी प्रवृत्ति और कुछ आर्यसमाज आन्दोलन के कारण हिन्दी लेखकों का ध्यान धर्म के प्राचीन रूप और धार्मिक अनुश्रुतियों की ओर गया। समाज-सुधार भावना तो सारी रचनाओं में है। सभी लेखकों ने नारी-जीवन में सुधार की आवश्यकता को समझा है और अपने विचार प्रकाशित किये हैं।

इस समय के प्रमुख गद्यकार ये हैं—लक्ष्मणसिंह (१८२८-१८९६), राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५), हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५), श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४), रामशंकर व्यास (१८६०-१९१६), राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७), सुधाकर द्विवेदी

१८६०-१६१०), स्वामी दयानंद (१८२४-१८८३), कार्तिकप्रसाद खत्री (१८५१-१६०४), राधाचरण गोस्वामी (१८५६-१६२५), ठाकुर जगमोहनसिंह (१८५७-१८६६), गदाधरसिंह (१८४८-१८६८), देवीप्रसाद मुंसिफ़ (१८४७-१६२३), बालमुकुन्द गुप्त (१८६३-१६०७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (१८५६-१६१०), काशीनाथ (आ० १८८०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१६३२), बिहारीलाल चौबे (आ० १८८८), तोताराम वर्मा (१८४७-१६०२), नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८६०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१६१३), महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६६-१६३६), शंकरसहाय अग्निहोत्री (१८३५-१६१०), अंबिकादत्त व्यास (१८५८-१६००) और श्यामसुन्दरदास (१८७८-१६४५)। इन लेखकों ने साहित्य के लगभग सभी क्षेत्रों में काम किया। यद्यपि मौलिकता और साहित्यिकता की दृष्टि से इनका साहित्य बहुत ऊँची श्रेणी का नहीं है, परन्तु वैभिन्न्य, प्रचार और परिमाण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इन लेखकों ने हिन्दी की अनेक प्रवृत्तियों को पुष्ट किया। उपन्यास, कहानी, नाटक और निबन्ध के क्षेत्र में इन लेखकों की प्रतिभा ने चमत्कारी परिवर्तन किये। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले हमारा अधिकांश साहित्य केवल मात्र काव्य साहित्य था। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, समाचार पत्रों के अग्रलेख और टिप्पणी के रूप में गद्य साहित्य का विशेष विकास इस युग में पहली बार हुआ। सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही हम गद्य के क्षेत्र में सम्पूर्ण शक्ति के साथ पदार्पण करते हैं। नाटक के अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य में गद्य के किसी भी अंग का अधिक विकास नहीं हो पाया था। उपन्यास के नाम पर "कादम्बरी" के सिवा क्या था और 'कादम्बरी' भी आधुनिक उपन्यास की परिभाषा पर पूरी नहीं उतरती। अन्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी

में हम पहली बार संसार के देशों के साहित्यों से परिचित हुए और हमने उनके प्रभावों को स्वीकार कर लिया।

पहले उपन्यास को ही लीजिये। हिन्दी उपन्यास नितान्त आधुनिक वस्तु है। १९वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में इस ओर प्रयोग आरंभ हुए। १८०३ ई० में इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी', सदलमिश्र जी ने 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३), लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' (१८०३-१८०९) की रचना की। अन्य कथात्मक ग्रन्थ हैं—सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, माधवानल, काम-कन्दला और शकुन्तला। १८२४ ई० में जटमल की गोराबादल की कथा का राजस्थानी पद्य से गद्य में अनुवाद हुआ। इन पुस्तकों के बाद राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' उल्लेखनीय है। आधुनिक दृष्टिकोण से इन ग्रंथों को उपन्यास नहीं कहा जा सकता, परंतु उन्होंने कथा-द्वारा सहस्रों पाठकों का मनोरंजन किया। सच्चे उपन्यासों की रचना अभी बहुत दिनों तक सपना थी। यह रचना उसी समय संभव हो गई जब अंग्रेज़ी, बंगाली और मराठी उपन्यास जनता के सामने आ गए। उस समय शुक बहत्तरी, सारंगा सदावृक्ष, क़िस्सा तोता-मैना, क़िस्सा साढ़े तीन यार उर्दू में अनुवादित या कभी-कभी हिन्दी अक्षरों में हिन्दी जनता का मन बहलाते थे। चहारदुर्वेश या बाग़ो-बहार, क़िस्सा हातिमताई, दास्तान अमीर हमज़ा और तिलिस्म होशुरुबा फ़ारसी से अनुवादित थे। इन सब ग्रन्थों में जादू, ऐयारी, कुत्सित-प्रेम और साहसिक रोमांस का चित्र था।

हिन्दी का पहला उपन्यास एक मराठी उपन्यास "पूरनप्रभा और चन्द्रप्रभा" का हिन्दी अनुवाद है जो भारतेन्दु ने उपस्थित किया। इसमें वृद्ध विवाह के दोष दिखलाये गए हैं। मौलिक उपन्यासों की रचना में सब से प्रथम लेखक लाला श्रीनिवासदास हैं। इनका उपन्यास परीक्षा गुरु (१८५४) हिन्दी का सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास

है। परन्तु हिन्दी उपन्यास के सब से बड़े लेखक पं० किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) हैं। अन्य लेखक देवीप्रसाद शर्मा, राधाचरण गोस्वामी, हनुमतसिंह, गोपालराम गहमरी और छेदीलाल हैं। राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु के प्रोत्साहन से १८९० ई० में गोरक्षा और हिन्दू-मुसलिम-समस्या पर एक उपन्यास लिखा। इस युग के प्रधान उपन्यास थे त्रिवेणी (१८८८), स्वर्गीय कुसुम (१८८९), हृदयहारिणी (१८९०), लवंगलता (१८९०), विधवा-विपत्ति (१८८०), चन्द्रकला (१८९३), अघोरपंथी बहुरूपाचार्य (१८८६)। ऊपर के उपन्यास और उपन्यासकार समाज-सम्बंधी समस्याओं को प्रधानता देते हैं। इन सब लेखकों में विषय-वैभिन्न्य और साहित्य के प्राचुर्य की दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी सर्व-प्रधान हैं। उनका दृष्टिकोण सनातनधर्मियों का दृष्टिकोण है, परन्तु आर्यसमाज के विरोधी होते हुए भी उन्होंने उनके दृष्टिकोण को अपनाकर सुधारों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया, यद्यपि कदाचित् इसी कारण उनकी आवाज़ में अधिक बल नहीं है। किशोरीलाल गोस्वामी की एक महत्ता यह है कि उन्होंने ही पहले-पहल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। ऐसे उपन्यासों में लवंगलता, हृदयहारिणी और कुसुम कुमारी महत्वपूर्ण हैं। उनपर स्काट का प्रभाव लक्षित है। हनुमंत-सिंह ने भी स्त्री-समाज-सुधार सम्बन्धी कुछ उपन्यास लिखे। वास्तव में इस युग के उपन्यासों में नारी-समस्या की प्रधानता थी। 'कामिनी' (१९००) में बाबू बालमुकुन्द वर्मा ने भारतीय नारी के साहस की कहानी कही है। पश्चिमी समाज और सभ्यता का जो प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ रहा था, वह इस समय के लेखकों को अखरता था। ऐसे कई लेखक हैं जिन्होंने इस प्रभाव का विरोध किया। ऐसे लोगों में गोपालराम मुख्य हैं। सच तो यह है कि इस समय के सारे उपन्यासों का ध्येय समाज का चरित्र-सुधार था। हाँ, ऐतिहासिक उपन्यासों में

लेखकों का ध्यान रोमांस-सृष्टि की ओर रहता था और उनमें अधिकतर प्रेमी-प्रेमिकाओं के साहसपूर्ण कार्यों के वर्णन रहते थे। जो हो, नारी के प्रति एक नया दृष्टिकोण धीरे-धीरे विकसित हो रहा था। इस समय का एक उपन्यास ('स्वर्गीय कुसुम'—किशोरीदास गोस्वामी) देवदासी प्रथा के विरोध में है। अधिकांश दूसरे उपन्यासों में भी हिंदू नारी के उत्थान की चेष्टा की गई है और उसके सामने उन ऐतिहासिक प्रसिद्ध बहनों की मिसालें रखी गई हैं जिन्होंने मुसलमान आततायियों से अपनी रक्षा की थी।

ऐसे उपन्यास भी हैं जिनका दृष्टिकोण नैतिक अथवा राजनीतिक है। इस प्रकार के उपन्यास लिखनेवालों में बालकृष्ण भट्ट, रतनचंद, किशोरीलाल गोस्वामी, महंत लज्जाराम शर्मा, गोपालराम गहमरी और कार्तिकप्रसाद खत्री मुख्य हैं। इनके लिखे उपन्यासों के विषय कुटुम्ब और समाज हैं, परंतु इनमें पाप पर पुण्य की विजय दिखलाने की भावना चल रही है। चरित्र या तो एकदम देवता हैं या एकदम दानव। इसीलिये इन उपन्यासों में चरित्र-निर्माण की कला का विकास नहीं हो पाया है। मनुष्य के परिस्थिति-जन्य पतन और उसकी स्वाभाविक दुर्बलताओं की ओर सहानुभूतिपूर्ण ध्यान ही नहीं दिया गया है। इस सारे युग में हमें संकुचित नैतिक भावना का प्राधान्य मिलता है। इस युग के उपन्यास मध्यवर्ग को अपनी दृष्टि के सामने रखते हैं। समाज के दूसरे वर्गों तक इनकी दृष्टि नहीं पहुँचती।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के अनुवादों में प्रधान भाग कहानियों का ही है। १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदी जनता इन्हीं अनुवादों से मनोरंजन प्राप्त करती थी। ये उपन्यास इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि इन्होंने हिंदी उपन्यासकला पर विशेष प्रभाव डाला और एक विशेष प्रकार के उपन्यासों का सृजन किया। ये अनुवाद संस्कृत या फ़ारसी से किये गये थे। जैसा हम पहले कह आये हैं, इनमें प्रमुख सिंहासन

बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शुक बत्तीसी, राजा भोज का सपना, तिलिस्म होशरुबा और क़िस्सा तोता-मैना हैं। ये कहानियाँ रोमांस-प्रधान और कल्पना-प्रधान थीं। समाज, राष्ट्र या कुटुम्ब से उनका कोई संबन्ध नहीं था। न कथानक संगठित रहता था, न चरित्रचित्रण का पता था। अतिमानवीय घटनाएँ, जादू और तिलिस्म इन उपन्यासों के प्रधान अंग हैं। कथानक प्रेमी-प्रेमिकाओं से भरा रहता है। नायक नायिका के प्रेम में मुग्ध है। प्रतिनायक के छल में पड़कर वह किसी तिलिस्मी चक्कर में फँस जाता है। दोनों ओर के ऐयारों के छल-छन्द चलते हैं। तिलिस्म की दुनिया ही दूसरी है। तिलिस्मी बाबा के पास ऐसे-ऐसे कौतुक हैं कि हम आश्चर्य में पड़े रह जाते हैं। अंत में किसी प्रकार राजकुमार नायक तिलिस्म तोड़कर अक्षय धन-भंडार की प्राप्ति करता है और प्रतिनायक को हराकर नायिका का पाणिग्रहण करता है।

इन तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यासों का प्रभाव हम किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों पर भी देखते हैं। काशीनाथ वर्मा और विजयानन्द त्रिपाठी ने "चतुरसाही" और सच्चा सपना" के अनुवाद १८९० में किये। इनमें तांत्रिक और अलौकिक घटनाएँ हैं। जैनेन्द्रकुमार के 'कमलिनी' और देवीसहाय शुक्ल के उपन्यास 'दृष्टान्त प्रदीपिनी' (चार भाग (१८८६-१८९८) के संबन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। परंतु यह प्रभाव यहीं तक बना नहीं रहा। किशोरीलाल गोस्वामी के बाद जो प्रसिद्ध उपन्यासकार हमारे सामने आते हैं, वे बाबू देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) हैं। इन्होंने चन्द्रकांता चार भाग (१८९१), चन्द्रकांता संतति २४ भाग (१८९२-९६), नरेन्द्र-मोहनी ४ भाग (१८९३-९५) और वीरेन्द्रवीर (जासूसी उपन्यास १८९५) और भूतनाथ १८ भाग (१९०६-१९१३) की रचना की। ये सब उपन्यास ऐयारी और तिलिस्मी से भरे हुए हैं। ये सब

फ़ारसी के बोस्ताने ख़्याल और दास्ताने अमीर हम्ज़ा के ढंग के हैं, परंतु इनका वातावरण अधिक उन्नत है; और ये प्रेम का स्वच्छ रूप हमारे सामने रखते हैं। इनमें कल्पना की दौड़ आश्चर्यजनक है। एक घटना दूसरी घटना से बराबर इस तरह जुड़ी चलती है कि हमें खत्री की जोड़-तोड़ मिलानेवाली प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। खत्री के उपन्यासों ने इस प्रकार के साहित्य को बड़ी प्रगति दी और १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच के २५-३० वर्ष इस प्रकार के उपन्यासों से भरे हैं। यदि इनमें तिलिस्म न भी हो तो भी इनमें कल्पना की प्रधानता है और घटनाचक्र को प्रमुखता दी गई है। जासूसी कहानियों को भी इस प्रकार के उपन्यासों ने प्रगति दी। लेखकों की दृष्टि संस्कृत साहित्य के रोमांस-प्रधान उपन्यासों पर भी गई और उनका अनुवाद और अनुकरण भी हुआ। १८९३ ई० में देवीप्रसाद उपाध्याय ने 'सुन्दर सरोजिनी' और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'वसंतमालती' उपन्यासों की रचना संस्कृत उपन्यासों के ढंग पर ही की।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाली उपन्यासों का अनुवाद प्रचुर मात्रा में हुआ। अनुवादकारों में प्रमुख हैं—राधाकृष्णदास, गदाधरसिंह, गोस्वामी राधाचरण, बालमुकुन्द गुप्त, रामशंकर व्यास, विजयानन्द त्रिपाठी, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कार्तिकप्रसाद खत्री और बलदेवप्रसाद मिश्र। इन बंगाली उपन्यासों के अनुवाद के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू और अंग्रेज़ी के अनुवाद सीधे उन भाषाओं अथवा प्रांतीय भाषाओं से हुए। इन भाषाओं से अनुवाद-कर्त्ताओं में कई महत्वपूर्ण हैं। चक्रधरसिंह और गदाधरसिंह ने बंगला से, काशीनाथ खत्री ने संस्कृत से, पुरुषोत्तम-दास टंडन ने अंग्रेज़ी से और भारतेन्दु तथा स्वरूपचन्द्र जैन ने मराठी से अनुवाद किया। रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू और अंग्रेज़ी के कुछ

उपन्यासों को हिंदी का रूप दिया।

हिंदी नाटक भी हिंदी उपन्यास की तरह एक अत्यंत आधुनिक वस्तु है; यद्यपि नाटक का इतिहास किसी न किसी रूप में १४ वीं शताब्दी तक ले जाया जा सकता है। इस इतिहास को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो स्वयम् नाटक जिनमें से अधिकांश काव्य-बद्ध हैं और दूसरे महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत नाटकीय तत्त्व जैसे रामचरितमानस का नाटकीय तत्त्व। हमें प्रारंभ में यह कह देना है कि इस सारे काल के नाटक वास्तव में नाटक नहीं कहे जा सकते। ये काव्य हैं जिनके आगे नाटक शब्द का प्रयोग किया गया है। इनमें न नाटकों की भाँति कार्य-विभाजन है, न पात्रों और गमनागमन के विषय में निर्देश है। इनकी कोई परंपरा भी नहीं है। ये प्रयत्न मात्र हैं जो सारे हिंदी प्रदेश में छिटके हुये हैं, केवल मिथिला के केन्द्र से नाटक बराबर निकलते रहे।

हिंदी की बोलियों में सबसे पहले नाटक में मैथिली का प्रयोग गीतों के रूप में हुआ। इस केन्द्र से १३२८ ई० में उमापति ने रुक्मिणी-हरण और पारिजातहरण नाम के दो नाटक लिखे। लाल झा (१७८०), भानुनाथ झा (१८५०) और हर्षनाथ झा (१८४७) ने भी नाटक लिखे। इस केन्द्र से बाहर लिखे जाने वाले नाटकों की संख्या अधिक है। १७वीं शताब्दी में केशवदास ने विज्ञानगीता, कृष्ण-जीवन ने करुणाभरण, हृदयराम ने हनुमन्नाटक और ईशवन्तसिंह ने प्रबोधचंद्रोदय नाटक की रचना की। १८वीं शताब्दी में निवाज ने शकुन्तला और देव ने देवमायाप्रपंच नाटक लिखे। १९वीं शताब्दी के मध्य तक महाराज विश्वनाथ, मंजु, मंसारामकृष्ण शर्मा, हरिराम और ब्रजवासीदास ने क्रमशः आनन्दरघुनन्दन, हनुमन्नाटक, रघुनाथ-रूपक, रामलीला विहार नाटक, जानकी रामचरित नाटक और प्रबोध-चन्द्रोदय की रचना कर प्राचीन नाटक-साहित्य में वृद्धि की। ये नाटक

या तो संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं या उनका कथानक पौराणिक है। इन सभी लेखकों का दृष्टिकोण धार्मिक है। ये पद्य में हैं और इनमें नाटकीय गुणों का अभाव-सा है।

संस्कृत साहित्य में नाटक अत्यंत उच्चकोटि के थे, परन्तु लेखकों का ध्यान उनकी ओर नहीं गया। नाटक के विकास के लिए जिस समाज की आवश्यकता थी, वह समाज उपस्थित नहीं था और राजशक्ति का धर्म इस प्रकार के खेलों को पसंद नहीं करता था। सारे मध्ययुग की चिंतना गीतिकाव्य और मुक्तक के रूप में ही प्रगट हुई है। कथा की तृप्ति भी कविता ने ही की। १९वीं शताब्दी के मध्य तक यही दशा रही। परन्तु यह न समझना चाहिये कि इतनी बड़ी जनता के मन बहलाव के लिए कोई साधन नहीं था। समस्त बंगाल में यात्रा, पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में स्वांग और रासलीला आदि, मध्य व पूर्वी हिंदी प्रदेश में नौटंकी आदि जनता का मनोरंजन करते थे, विशेषकर उत्सवों और त्यौहारों के समय। कुछ लेखकों का कहना है कि इन्हीं से हिंदी-उर्दू नाटकों का विकास हुआ, परन्तु अधिकांश विद्वान इसे नहीं मानते।

उन्नीसवीं शताब्दी में नाटक के विकास के कई साधन इकट्ठे हो गये थे। अंग्रेज़ी विद्वानों ने भारतीय विद्वानों और लेखकों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित किया और उसके पठन-पाठन का प्रबंध किया। इससे संस्कृत नाटकों की ओर लोगों का ध्यान गया। कलकत्ता, मदरास और बंबई में अंग्रेज़ी रङ्गमंच प्रसिद्ध हो गया था और जो लोग मनोरञ्जन के लिए वहाँ जाया करते थे उन्होंने देशी रङ्गमंच को जन्म देने में प्रोत्साहन दिया। अंग्रेज़ी की शिक्षा के साथ-साथ लेखकों के सामने अंग्रेज़ी नाटक-साहित्य आया। बंगाली नाटक का विकास हिंदी नाटक से पहले हो गया था। इसका कारण यह था कि बंगाली समाज और साहित्य अंग्रेज़ी समाज और साहित्य के संपर्क में सबसे

पहले आया। इस समय ऐसी अनेक प्रवृत्तियों ने भी जन्म ले लिया था जिनकी अभिव्यक्ति नाटक में ही हो सकती थी। समाज सुधार की भावना प्रधान थी। हमने जिस प्रकार समाचार-पत्रों में पंच को जन्म दिया उसी तरह साहित्य में प्रहसन को। राष्ट्रीयता का विकास भी नाटक-रचना में सहायक हुआ। धार्मिक आन्दोलनों ने देश का ध्यान धार्मिक और पौराणिक कथाओं की ओर फेरा और उनको विषय बना कर नाटकों की रचना हुई।

हिंदी का पहला नाटक (जिसे वास्तविक अर्थ में नाटक कहा जा सकता है) 'नहुष' है। इसे १८५६ ई० में हरिश्चंद्र के पिता गिरधारीदास (गोपालचंद्र) ने लिखा। हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) अपने पिता के भाग्य उत्तराधिकारी निकले। उन्होंने अंग्रेज़ी और संस्कृत नाटकों को एक केंद्र पर लाने की चेष्टा की और उन्होंने नाटक शास्त्र के गहरे अध्ययन के बाद लेखनी उठाई। वह बंगला नाटकों से भी प्रभावित हुए।

हरिश्चंद्र का पहला नाटक 'विद्या सुंदर' है जो उन्होंने अपनी १८६८ ई० की जगन्नाथपुरी की यात्रा के पश्चात् लिखा। उन्होंने इस नाटक को बंगाली भाषा में खेले जाते देखा होगा। यह अनुवाद था। इसके उपरांत उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, देश-प्रेम-संबंधी, राजनैतिक और पौराणिक कथानकों को लेकर नाटक लिखे। उनके पूर्ण नाटक श्री चंद्रावली (१८७८), विषस्य विषमौषधम् (१८७६), भारत-दुर्दशा (१८८०), नीलदेवी (१८८१) हैं। उन्होंने दो नाटक 'प्रेम-वियोगिनी' (१८७५) और 'सती प्रताप' (१८८३) अधूरे छोड़े।

भारतेन्दु के नाटकों को ३ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) जिनमें सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर विचार

किया गया है (भारत दुर्दशा, नीलदेवी)।

(२) पौराणिक (सती प्रताप)।

(३) रोमांस (चंद्रावली)। भारतेन्दु के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें रंगमंच और साहित्य का एक साथ ध्यान रखा गया है। हो सकता है आज के मानदंड पर वे पूरे नहीं उतरें, परन्तु हमें यह भी देखना होगा कि भारतेन्दु किन कठिनाइयों के बीच में काम कर रहे थे। सच तो यह है कि भारतेन्दु के नाटकों में उनके युग की अभिरुचि का चित्रण पूर्णत: हो गया है।

भारतेन्दु के बाद हिंदी नाटक पतनोन्मुख हो गया है। हमें नाटककार तो बहुत से मिलते हैं, परन्तु कलाकार बहुत ही थोड़े। इसमें श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी और राव कृष्णदेवशरण सिंह मुख्य हैं। इन सब लेखकों के नाटकों में केवल राधाकृष्णदास ने बाल विवाह, असहिष्णुता आदि दुर्गुणों के परिहार की चेष्टा की है। अन्य नाटककारों का विषय प्रेम अथवा रोमांस है। उन्होंने समाज की ओर ध्यान नहीं दिया है। वास्तव में नाटक की अवस्था भारतेन्दु के समय में भी बहुत अच्छी नहीं थी। स्वयं भारतेन्दु के समय में लोगों में नाटक देखने की अभिरुचि नहीं थी और उनके बाद ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने नाटक के विकास पर आघात किया। भारतेन्दु के समय में ही पारसी कहानियों का प्रभाव बढ़ गया था। उन्होंने जनता की अभरुचि को बिगाड़ दिया। वह सस्ते पैसों में तड़क-भड़क देखने की आदी हो गई। हिंदी नाटककारों ने भी आर्थिक संकटों के कारण इन कम्पनियों के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया। पारसी कम्पनियों पर उर्दू रंगमंच लेखकों का अधिकार था। कथा के नाम पर लफ़्फ़ाज़ी (शब्द बवंडर) और वासना का प्रदर्शन होता था। इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही वृद्ध लोग

और समझदार रंगमंच को बड़ी बुरी दृष्टि से देखने लगे। नवयुवकों का थियेटर जाना और उनमें पार्ट लेना असम्भव हो गया। रंगमंच पर गान-वाद्य, अतिशयोक्ति पूर्ण कथन और अस्वाभाविक नाट्य एवं पद्य का राज्य था। इस परिस्थिति को सुधारने की कुछ लेखकों ने चेष्टा की, परंतु असफल रहे। कदाचित् इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर बंगाली नाटकों के हिंदी अनुवाद आरम्भ हुए, परंतु उनमें भी रंगमंच की अवस्था कुछ नहीं सुधरी।

फिर भी परवर्ती लेखकों पर भारतेन्दु का प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतेन्दु की शैली अपनाई, उन्हीं की तरह सामाजिक विषय लिए, उनपर गंभीर नाटक और प्रहसन लिखे, कभी-कभी देशभक्ति को भी स्थान दिया यद्यपि इस विषय में वे सदैव सतर्क रहे। परंतु उन पर भारतेन्दु से कहीं अधिक, बड़ा और गहरा प्रभाव पारसी थियेटर और जनता की बिगड़ी अभिरुचि का पड़ा। उन्होंने पारसी थियेटर की शैली को महत्व दिया। जनता की अभिरुचि देखते हुए उन्होंने अपने अधिकतर नाटकों का विषय पाप पर पुण्य की जय या भक्तों की महिमा का निरूपण किया। जनता की अभिरुचि स्त्री-चरित्र की ओर अधिक थी। उससे उस समय की स्त्री-विषयक धारणा की पुष्टि होती थी और रोमांस का आनन्द मिलता था। पारसी थियेटर के प्रधान अस्त्र गान, नृत्य, भड़कीले दृश्य और वस्त्राभूषण थे। वह अद्‌भुत रंगमंच के करिश्मे दिखाती थी। इन बातों ने जनता का मन मोह लिया।

भारतेन्दु के परवर्ती नाटककारों ने समाज-सुधार की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। वह प्रेम और रोमांस के भुलावे में अपने समय की समस्याओं से दूर हो गये। इसका फल यह हुआ कि जनता (जो उस समय इन समस्याओं के सुलझाने में लगी थी) उनकी न हो सकी। यदि समाज-सुधार विषय पर अधिक जोर दिया जाता तो कोई बड़ा नाटककार, रंगमंच होने पर, जनता को अपनी ओर फेर सकता था।

वास्तव में हरिश्चंद्र के बाद नाटक को कोई ऐसा व्यक्तित्व मिल ही नहीं सका जो उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनाए।

यह आश्चर्य का विषय है कि ऐसे समय में नाटक का ह्रास हुआ। जब उसे अत्यंत बलवाला अस्त्र बनाया जा सकता था। वह युग आत्मचिंतन, आत्मशोध एवं धार्मिक हलचल का युग था। आर्य समाज का नेतृत्व केवल भौतिक वाद-विवादों और पत्रों तक सीमित रह गया था। राजनीति अभी खुलकर सामने नहीं आई थी। ऐसा समय नाटक रचना के लिए अत्यंत उपयुक्त था।

उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों में सब से गुणवान वस्तु प्रहसन हैं। जिस अर्थ में हम प्रहसन का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में कोई वस्तु १९वीं शताब्दी में समाज के सामने एक उत्कट समस्या उत्पन्न हो गई। एक वर्ग ऐसा पैदा हो गया जो एक नई समस्या को अपना रहा था। इससे समाज पुरातन-प्रिय मंडली को उसका खाका उड़ाने का अवसर हाथ आया। प्रहसन सामाजिक विडम्बना का ही सूचक है। हिंदी का सब से पहला प्रहसन भारतेन्दु का "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" (१८७५) है। इसमें उन्होंने नवीन समाज के आचार-संबंधी सिद्धांत की हंसी उड़ाई है। उनका दूसरा प्रहसन "अंधेर नगरी" है जो १८९२ ई० में लिखा गया।

परन्तु शीघ्र ही प्रहसन लोकप्रिय हो गया और उसके क्षेत्र का विस्तार हुआ। नवीन विचारों के समर्थकों ने प्राचीन विचारों आदि रूढ़िग्रस्त व्यक्तियों के प्रति इसका प्रचुर प्रयोग किया। लगभग जीवन की समस्त दिशाओं को प्रहसन का विषय बनाया गया। इस समय के प्रसिद्ध प्रहसन-लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट (१८४७-१९१९), देवकीनन्दन त्रिपाठी (आ० १८७०) लालखड्गबहादुरमल (आ० १८७३), राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वमी, देवकीनन्दन तिवारी

(आ० १८७३) चौधरी नवसिंह और गोपालराम गहमरी हैं। परन्तु इन प्रहसनों में उच्चकला के दर्शन नहीं होते। इनका महत्व साहित्यिक नहीं है, ऐतिहासिक अवश्य है।

उपन्यासों और नाटकों ने उन्नीसवीं शताब्दी की जनता के सम्मुख नये साहित्य को उपस्थित किया, परंतु इस युग की प्रतिभा सबसे सुन्दर रूप से निबंधों में ही प्रकाशित हुई। हिंदी पत्रों के प्रादुर्भाव के कारण गद्य-लेखक की उस शैली का जन्म हुआ, जिसे लेख कहते हैं। और जैसे-जैसे पत्रों की संख्या और उनके संपादन में उन्नति होती गई वैसे-वैसे अधिक अच्छे लेख लिखे जाने लगे। ये लेख उस समय के सामयिक साहित्य का रूप रखते हैं। कदाचित् पहले महत्वपूर्ण निबंध लेखक भारतेन्दु ही हैं। परंतु उस सारी शताब्दी में सैकड़ों लेख लिखे गये जिनमें से अधिकांश तो प्राचीन पत्रों के साथ लुप्त हो गये।

परंतु गद्य-लेखक का यह रूप जिसे निबंध कहते हैं अधिक विकसित नहीं था। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र इस समय के सबसे अच्छे निबंधकार हैं। इनके निबंध "हिंदी प्रदीप" और "ब्राह्मण" के द्वारा हमारे सामने आये। उन्होंने अपनी शैली आप विकसित की। उनकी भाषा में अनेक प्रांतीय प्रयोग आ जाते थे परंतु वह अलंकारों और काव्योपयोगी प्रयोगों से मुक्त थे। उन पर वैयक्तिकता की छाप थी जो प्रत्येक अच्छे निबंध में होना आवश्यक है।

प्रतापनारायण मिश्र ने हास्य रस के निबंधों और व्यंगात्मक शैली को जन्म दिया। उनके लेखों में जो चुलबुलापन है वह जितना उस युग के पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिये आवश्यक था, उतना ही लेखक के साहित्य-प्रकाशन के लिये। शब्दों के चुनाव, विचारों के प्रकाशन और उनकी नागरिकता के संबन्ध में पं० बालकृष्ण भट्ट अधिक सतर्क हैं, परंतु पं० प्रतापनारायण मिश्र हास्य के

पुट द्वारा अपने निबंधों को अधिक रोचक बना देते हैं। निबंधों ने गद्य-शैली को विकसित एवं परिमार्जित करने तथा अन्य लेखकों के सामने भाषा और अभिव्यक्ति के ढंग का नमूना रखने में बड़ी सहायता की। इसने शब्दकोष की वृद्धि करने और उसे स्थिर रखने में भी सहायता दी। लगभग सभी लेखकों ने निबंध लिखे। इनमें पिछले दो के अतिरिक्त भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, दयानन्द, बालमुकुंद गुप्त शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। वह युग खंडन-मंडन, बुद्धिवाद और तर्क का युग था और इन सब बातों ने निबंध के लिये विषय चुने और उनकी शैलियों के विकास पर प्रभाव डाला। निबंधों के द्वारा ही हिंदी गद्य ने नया जन्म लिया। हिंदी प्रदीप (१८७७) और ब्राह्मण (१८८३) के प्रकाशन ने हिंदी निबंध जगत में क्रांति करदी और शताब्दी के अंत होते-होते विषय-वैभिन्न्य, शैली, साहित्य सभी दृष्टि से हिन्दी निबंध ऊँची श्रेणी का हो गया था। नए ज्ञान को जनता तक पहुंचाने का वही साधन था। वास्तव में कुछ वैदिक निबंधों को छोड़कर इस युग के लेखों और निबंधों में भेद करना कठिन है। जहाँ निबंधों ने शैलियों की सृष्टि की, वहाँ लेखों ने हिंदी प्रचार और विचार-प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया।

नवीन दृष्टिकोण से जीवनी-लेखन भी भारतेन्दु से प्रारम्भ होता है। उन्होंने इस क्षेत्र में १८८२ ई० के लगभग कार्य शुरू किया और विक्रम, कालिदास, रामानुज, जगदेव, राजाराम शास्त्री, लार्ड मेयो, लार्ड रिपन आदि के संक्षिप्त जीवन चरित्र उपस्थित किये। इनमें दृष्टिकोण ऐतिहासिक और खोज-पूर्ण था। इसके बाद उनके अनुसरण में जीवन-लेखन की एक धारा ही चल पड़ी। अनेक लेखकों ने इस काम को आगे बढ़ाया। इनमें कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाकृष्णदास, गोकुलनाथ शर्मा, अंबिकादत्त व्यास और मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ महत्वपूर्ण हैं। लालखड्गबहादुरमल ने भी उनके संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिखे। कुछ जीवन चरित्रों की सामग्री एवं आधार अत्यंत

भ्रामक और असत्य हैं, परंतु नये दृष्टिकोण को लेकर चलनेवाले अधिकांश लेखक सत्य के अधिक निकट पहुँचने की चेष्टा करते हैं। १९०० ही में मेज़िनी का जीवन चरित्र छपा जो लाला लाजपतराय के इसी नाम के अंग्रेज़ी ग्रंथ का अनुवाद था। इसने हिंदी जीवनी-लेखकों के सामने नया आदर्श रखा। अनेक जीवन-ग्रंथ लिखे गये और सम-सामयिक पत्रों में प्रकाशित हुये। इस प्रकार के लेख लिखने वालों में राजा शिवप्रसाद और काशीनाथ खत्री महत्वपूर्ण हैं।

बीसवीं शताब्दी

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत होते-होते गद्य में अनेक प्रकार की विभिन्नता आ चुकी थी। समाचार-पत्रों, नाटकों, उपन्यासों और निबंधों के रूप में उसका प्रचुर प्रयोग हो चुका था। लेखकों ने अगम्य उत्साह से हिंदी भाषा की प्रतिष्ठा की थी और मध्यवर्ग की जनता उनकी ओर आकृष्ट भी हो चुकी थी।

पिछली शताब्दी में भाषा और व्याकरण की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। वह समय खड़ी बोली गद्य के जन्म और प्रचार का था। इसलिये लेखकों का इस ओर आग्रह था भी नहीं। १९वीं शताब्दी के गद्य में हम प्रांतीय प्रयोगों की ओर पक्षपात और व्याकरण की उपेक्षा की प्रवृत्तियाँ पाते हैं। बंगला उपन्यासों के अनुवाद के कारण इस प्रकार की उच्छृंखलता बढ़ी। बंगला में बहुत से तत्सम् संस्कृत शब्द हिंदी में आ गये और बंगला लेखकों के अनुकरण में तत्समप्रियता बढ़ी। यही नहीं, संस्कृत की कोमलकांत पदावली की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। परन्तु इतना होते हुए भी हिंदी एकरूपता की ओर बढ़ रही थी, विशेषकर समाचार-पत्रों के द्वारा, परन्तु उसकी चाल सुस्त थी।

नई शताब्दी के आरम्भ में कई नई शक्तियों ने हिंदी गद्य के क्षेत्र

में प्रवेश किया—

१—१६०० ई० में हिंदी कचहरी की भाषा मान ली गई। इससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी।

२—१८६३ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा और दो वर्ष बाद उसके मुखपत्र नागरी प्रचारिणी पत्रिका का जन्म हुआ। इस पत्रिका में पहली बार ठोस साहित्यिक और खोज-संबन्धी लेखों में हिंदी गद्य का प्रयोग हुआ।

३—१६८३ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा की संरक्षता में सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। १६०३ ई० में इस पत्रिका का संपादन पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ में आया। थोड़े ही समय में पता लग गया कि यह एक क्रांतिकारी घटना थी।

अगले १५ वर्षों में हिंदी गद्य का केन्द्र सरस्वती रही। ऊपर हमने भाषा की अस्थिरता के तीन कारण बताये हैं। १—प्रांतीयता का प्रयोग, २—बंगला वाक्यगठन और बंगला शब्दों का प्रयोग जिससे गद्य में शिथिलता आ रही थी, ३—व्याकरण के नियमों की उपेक्षा इनके अतिरिक्त कुछ नवीन कठिनाई भी उपस्थित हो गई थी। द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य के अनेक लेखक पैदा किये। उन्होंने अँग्रेज़ी पढ़े लोगों को हिन्दी लिखने की ओर लगाया। इससे भाषा के क्षेत्र में उच्छृङ्खलता और बढ़ी। ये लोग हिंदी की प्रकृति को न पहचानकर अँग्रेज़ी शब्दों और मुहाविरों का अक्षरशः अनुवाद करने लगे। लिंग-भेद की कठिनाई भी इन लोगों के सामने आई और इस विषय में इन्होंने अनेक भूलें कीं।

ऐसे समय में भाषा के नियंत्रण की नितांत आवश्यकता थी। सौभाग्य से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे आचार्य ने यह काम अपने हाथ में ले लिया। उन्होंने भाषा के रूप को निश्चित करने के लिये

विभक्ति-प्रयोग का आन्दोलन चलाया, लिंगभेद की भूलों को दूर करने की चेष्टा की और व्याकरण के नियमों का नए लेखकों से कठोरता से पालन कराया। उन्होंने हिन्दी के स्वतंत्र व्याकरण की ओर ध्यान आकृष्ट किया। बंगला और हिंदी अनुवादों में शिथिलता का कारण यही था कि लेखक हिंदी के व्याकरण की ओर ध्यान नहीं देते थे जैसे उनका अतिस्त्व ही न हो।

यह सारा काम पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन लेखकों की भाषा को सुधारकर किया जो उनके आग्रह से अथवा उनकी पत्रिका की प्रसिद्धि द्वारा आकृष्ट होकर हिन्दी के क्षेत्र में आये थे। वह सुधार किए बिना कोई लेख नहीं चाहते थे। प्रत्येक लेख पर वे स्वयं परिश्रम करते और कभी-कभी उनके द्वारा संशोधित लेख में मूल लेखक का कोई भी वाक्य नहीं रहता था। जब ये लेख शुद्ध रूप में प्रकाशित होते तो लेखकों का ध्यान इनकी ओर जाता और वह इन्हें बड़े ध्यान से देखकर अपनी भाषा-शैली में सुधार करते। इसका फल यह हुआ कि भाषा की अभिव्यंजना की शक्ति बढ़ी और उसमें गंभीर और सूक्ष्म भावों को प्रगट करना सम्भव हो गया। द्विवेदी जी ने स्वयं अनेक ऐसे विषयों पर लेखनी चलाई जिनमें उनसे पहले किसी प्रकार का साहित्य उपस्थित नहीं हुआ था। उन्होंने अन्य लेखकों को विषय की विभिन्नता की ओर बढ़ाया। महायुद्ध के समय तक हिंदी गद्य द्विवेदी; स्कूल द्वारा विभिन्न विषयों के लिए प्रयुक्त हो चुका था और विषय की विभिन्नता के साथ-साथ शैलियों की विभिन्नता भी आ गई थी। परन्तु इस विभिन्नता की रूपरेखा अधिक स्पष्ट नहीं हुई। इसके लिए कारण थे। एक कारण यह था कि लेखकों में वैयक्तिकता का अभाव था; दूसरे ज्ञान-विज्ञान की विवेचना की ओर दृष्टि अधिक थी, रचनात्मक साहित्य की ओर कम। तीसरे ललित निबंधों का अभाव था। चौथे, द्विवेदी जी की विषय-प्रकाशन की शैली का इस समय के लगभग

सभी लेखकों पर प्रभाव था। जो नये लेखक नया लिखना सीख रहे थे उनसे यह आशा करना उचित भी नहीं था कि साहित्यिक शैलियों का प्रयोग करेंगे और उनमें कला का प्रदर्शन होगा।

युद्ध (१६१४-१८) के बाद प्रत्येक क्षेत्र में, क्या गद्य में क्या पद्य में, वैधानिकता का विकास हुआ। इसके कारण शैलियों में विभिन्नता आई। गद्य के विकास में कई बातों ने सहायता दी :—

१—राजनैतिक आन्दोलनों ने वही काम किया जो एक समय आर्य-समाजसुधार ने किया था। उन्होंने जहाँ हिन्दी गद्य का प्रचार किया वहाँ उसे क्षिप्र, व्यंगात्मक, वक्र, तीव्र और शक्त बनाया। गद्य में प्रौढ़ता आई। एक दिशा में राजनैतिक आन्दोलनों का प्रभाव बुरा भी पड़ा। लेखकों की दृष्टि कला की ओर नहीं गई। उन्होंने व्याख्यान-शैली को ग्रहण किया जिससे स्वाभाविक गद्य-शैली के विकास में बाधा पड़ी। परन्तु सब कुछ ले-देकर लाभ ही अधिक हुआ। हिंदी गद्य संकुचित साहित्य क्षेत्र से निकलकर व्यवहार के विस्तृत क्षेत्र की ओर बढ़ा।

२—१६१६ ई० के राजनैतिक सुधारों ने साधारण जनता को राजनैतिक क्षेत्र में ला खड़ा किया। फल यह हुआ कि राजनीति की बागडोर मध्य वर्ग के हाथ में होने पर भी उसे गाँव की जनता की ओर झुकना पड़ा। शासन-सभाओं के चुनाव के अवसर पर जनता का मुँह ही जोहना पड़ता था। इससे यह प्रकाशन की शैली की ओर ध्यान गया। साहित्यिक भाषा में जनता की भाषा के अनेक शब्द और प्रयोग आ गये। हिन्दोस्तानी भाषा का आन्दोलन नए रूप से आगे बढ़ा। पहले उसका समर्थक शासक वर्ग था। अब राजनीतिज्ञ दल जो जनता तक पहुँचना चाहता था और जन-भाषा को भ्रमवश हिंदुस्तानी मानता था जब कि उसे सरल हिंदी

अथवा बोलियों से मिश्रित हिंदी मानना चाहिये था।

हिंदी-उर्दू की समस्या भी प्रतिदिन उग्र-रूप धारण करने लगी। परिस्थिति कुछ इस प्रकार थी। मुसलमानों और हिंदुओं के कुछ विशेष वर्गों (कायस्थों, काश्मीरी ब्राह्मणों और नौकरी-पेशा लोगों, विशेषतः कचहरी से संबंध रखने वालों) की साहित्यिक भाषा उर्दू थी। इनको छोड़ कर हिंदी प्रदेश की सारी जनता की साहित्यिक भाषा हिंदी खड़ी बोली थी। नगरों के बोलचाल की भाषा खड़ी थी, परन्तु, पश्चिमी प्रदेश (ब्रज, बरेली, आगरा) को छोड़कर अन्य सब प्रदेशों में वहाँ की बोलियाँ ही बोलचाल के काम में आती थीं। नगरों में बाहर के मुसलमान भी अपने-अपने प्रदेश की बोली बोलते थे। केवल नगरों के मुसलमानों और कचहरी-दरबार से संबंध रखने वाले हिंदू सभ्य समाज में उर्दू बोल-चाल की भाषा थी। इसी भाषा को भ्रमवश सारे प्रांत की भाषा कहा गया और हिन्दुस्तानी नाम दिया गया। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह भाषा खड़ी बोली ही थी जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहुत बड़ी संख्या में प्रयोग होता था, सरल हिंदी शब्दों को गँवारू समझकर उपेक्षा भाव से देखा जाता था और जिन सरल संस्कृत या हिंदी शब्दों का प्रयोग भी किया जाता, उन्हें भी एक विचित्र प्रकार का तद्भव-रूप दे दिया जाता। राजनीतिज्ञों ने इस भाषा को अपनाकर हिंदी के विकास के सामने एक कठिनाई उपस्थित कर दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायुद्ध के बाद हिंदी के क्षेत्र में तीन भाषाओं का प्रयोग हो रहा था—

(क) हिन्दी (हिन्दुओं की साहित्यिक और बोलचाल की भाषा)।

(ख) उर्दू (मुसलमानों की साहित्यिक भाषा और बोलचाल भाषा)।

(ग) हिन्दुस्तानी। हिन्दू राजनीतिज्ञ इसके समर्थक बने हुए थे और इसे हिंदी का ही साम्यवाची मानते थे, यद्यपि व्यवहार में अरबी-फारसी शब्दों का इतना प्रयोग करते थे कि जहाँ तक हिंदी प्रदेश का संबंध है, उनकी भाषा साहित्यिक उर्दू का ही सरल रूप होती थी। हमें ध्यान रखना चाहिये कि कुछ राजनीतिज्ञों ने हिन्दुस्तानी का विरोध किया और कितने ही राजनैतिक नेता सरल हिंदी को सफलता-पूर्वक अपने भाषणों का माध्यम बनाते रहे।

३—राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। राजनैतिक आन्दोलनों के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना ने प्रधानता प्राप्त कर ली थी, इसलिए नेताओं का ध्यान एक राष्ट्रीय भाषा के आविष्कार की ओर गया। सार्वजनिक सभाओं में किस भाषा का प्रयोग किया जाय और अखिल भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति कौन भाषा कर सकती है, इस विषय में तीन मत सामने आये—(१) बंगला के समर्थक कहते थे कि बंगला ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा हो सकती है। केवल बहुत थोड़े बंगाली राजनैतिक नेता हिंदी को राष्ट्रीय भाषा मानने के लिए तैयार थे। (२) एक वर्ग ऐसा था जो अँग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहता था। दक्षिण में इस वर्ग को बहुत से समर्थक मिल गये। (३) अन्य लोग हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा कहते थे। इस हिन्दुस्तानी से तात्पर्य भिन्न-भिन्न थे। पश्चिमी भारत और मुसलमान जनता इसका अर्थ उर्दू लेती थी, दक्षिण भारत के लोग हिंदी, शासक वर्ग और राज-नैतिक नेता प्रच्छन्न रूप से इसी को उर्दू मानते थे; यद्यपि ऐसा स्पष्टतः करने का साहस नहीं कर सकते थे और स्वयं हिंदी प्रदेश के हिंदी-प्रेमी सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

इस युग में नेताओं की दृष्टि अखिल भारतीयता की ओर थी। भाषा हिन्दुस्तानी हो गई तो लिपि क्या हो?—नागरी, फ़ारसी, रोमन या प्रांतीय लिपि में से कौन राष्ट्रीय हो? इस विषय में कोई मतभेद

न था कि हिंदी अधिक वैज्ञानिक है और उत्तर-दक्षिण की कितनी ही लिपियों में और उसमें साम्य है। अतः लिपि नागरी ही होनी चाहिये। परन्तु उर्दू वालों के विरोध के कारण (जिन्हें राजनैतिक स्वार्थों के कारण कांग्रेस अलग नहीं कर सकती थी) नागरी लिपि को छोड़कर रोमन लिपि को क्षेत्र देने की ओर कितने ही नेताओं का झुकाव था, परन्तु अधिकांश जनता के लिए इस लिपि का भी सीखना असंभव था। अतः राष्ट्र-लिपि "नागरी" या "फ़ारसी" रही।

४—भाषा-शैली की दृष्टि से परिस्थिति विचित्र थी। (क) बंगला के भावात्मक गद्य के प्रभाव के कारण अत्यन्त स्वच्छंद और भावात्मक (प्रलापात्मक ?) गद्य-शैली का चलन हो गया था। (ख) छायावाद काव्य के प्रभाव के कारण कुछ नवयुवक काव्यात्मक आलंकारिता को अपनी शैली में स्थान दे रहे थे। (ग) राजनैतिक गद्य के कई रूप चल रहे थे जिनमें फ़ारसी उर्दू शब्दों को लिये हुये प्रभावशील उत्तेजनापूर्ण गद्य-शैली और फ़ारसी-शब्द प्रधान प्रवाहशील गद्य-शैली प्रमुख है। (घ) साहित्यकारों में जहाँ एक ओर प्रेमचंद ने हिन्दुस्तानी गद्य का प्रयोग किया और बाबू देवकीनंदन खत्री की गद्य-शैली की परम्परा को जारी रखा, वहाँ निराला, प्रसाद आदि संस्कृत शब्दावली की ओर अधिक झुके। यहाँ तक कि प्रसाद की कहानियों में मुसलमान पात्र भी संस्कृत-प्रधान हिंदी बोलते हैं। परन्तु अधिकांश साहित्यिकों ने संतुलन को बनाये रखा। यद्यपि गद्य के प्रौढ़ होने, कला के विकास और गंभीर विषयों (जैसे राजनैतिक और साहित्यिक सिद्धांत) पर लिखने के कारण तत्सम् शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ। गंभीर साहित्यिकों में जहाँ बाबू श्यामसुंदरदास ने भाषा और साहित्य की शैली जनता के सामने रखी, वहाँ आचार्य शुक्ल जी ने अपने निबंधों की शैली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायुद्ध के १०-१२ वर्ष बाद तक गद्य में शिथिल शैली से लेकर पुष्ट शैली तक अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ और जहाँ अरबी-फ़ारसी प्रधान शैली चलती थी, वहाँ दूसरी ओर ऐसी शैली भी चलती थी जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का नितांत अभाव था।

परन्तु इस काल के उत्तर में (१९३३ से १९४० तक) शैली की दृष्टि से अनेक मनोरंजन नवीन प्रयोग हुये। इनका आरम्भ जैनेन्द्र ने किया। एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सतर्क प्रयासपूर्ण और अहम्-प्रधान शैली का प्रयोग उन्होंने किया। उधर निराला जी ने गद्य-शैली को काव्य-तत्त्वों से अलंकृत किया और वाक्य योजना के कलात्मक प्रयत्न किये। उनकी दृष्टि कला और प्रकाशन पर भी प्रकाशन से अधिक थी। शैली के इन नवीन प्रयोगों में नवीनतम अज्ञेय और पहाड़ी की शैलियाँ हैं। वास्तव में इन शैलियों के मूल में कृत्रिमता और चमत्कारिता ही नहीं है। कथाकारों का दृष्टिकोण १९३३ ई० के साथ बदला है, उसी ने इन्हें जन्म दिया है। वे अपने स्थान पर एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं।

शताब्दी के आरम्भ में गद्य के क्षेत्र में कोई एक निश्चित शैली तो रह ही नहीं गई थी, यद्यपि कुछ उन्नीसवीं शताब्दी की शैलियाँ भ्रष्ट रूप में चल रही थीं। यही नहीं, महावीरप्रसाद द्विवेदी और नागरी प्रचारिणी पत्रिका के द्वारा नये विषयों का प्रवेश हिंदी में हो रहा था—इसके लिए शैली की तो बात ही अलग रही, पारिभाषिक शब्द ही नहीं थे। परन्तु बात यहीं तक समाप्त नहीं हो गई थी। वास्तव में, उन्नत विचारों को थोड़े शब्दों में कह देने योग्य शब्दकोष हमारे पास नहीं था। भाषा में व्याकरण और विभक्ति के अनिश्चित प्रयोग थे। विप्रान्तीय प्रादेशीय शब्दों की जो भरमार थी, उसका

मूलोच्छेदन और भाषा-संस्कार का बीड़ा द्विवेदीजी को उठाना पड़ा। परन्तु पहले दो अददों के घोर प्रयत्न के बाद ही ठीक-ठीक व्याकरण-सम्मत शुद्ध हिंदी लिखी जा सकी। द्विवेदीजी की निश्चित की हुई भाषामासिक पत्रों और समाचार-पत्रों की भाषा हो गई और इनके द्वारा वह एकरूपता को प्राप्त हुई। द्विवेदीजी ने हिंदी की भाषा को व्याकरण-सम्मत बना कर और उसमें विप्रांतीय और विदेशीय मुहावरों को हटा कर संतुलन-कार्य किया। परन्तु एक दूसरे प्रकार का काम सम्मिलित रूप से बहुत कुछ स्वतः हो गया। वह था भाषा कोष का विस्तार। अनजाने ही द्विवेदीजी ने इसमें योग दिया। उनकी भाषा में, कुछ उनके संस्कृत ज्ञान के कारण, कुछ मराठी भाषा द्वारा प्राप्त संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य रहा। भाषा-कोष की वृद्धि के कारण हुए—(१) नये संस्कृत शब्द—मराठी और बंगाली भाषाओं में संस्कृत शब्दों और संस्कृत शब्द-प्रधान पदावली अथवा सामाजिक भाषा-शैली का प्रयोग बराबर रहा है। अनुवादों के द्वारा कितने ही संस्कृत शब्द इन प्रांतों से हिंदी में आ गये हैं। परन्तु नये हिदी शब्दों को सीधे संस्कृत से अनेक कारणों से लेना पड़ा। संस्कृत हिंदी की माता है अतः उसकी ओर ध्यान जाना आवश्यक था, विशेषतः जहाँ नए पारिभाषिक शब्दों की बात थी। दूसरे अन्य प्रान्तीय भाषाओं के अनुवाद के साथ-साथ संस्कृत के अनेक ग्रंथ भी हिंदी में अनुवादित हुए और अनेक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर कहानियाँ लिखी गईं और उनकी आलोचनाएँ हुईं। ये आलोचनायें संस्कृत-साहित्य के रस, अलंकार, ध्वनिआदि साहित्यिक सिद्धान्तों को लेकर चलती थीं; अतः इनके द्वारा संस्कृत के पारिभाषिक और अभिव्यंजक शब्दों का आना अस्वाभाविक नहीं था। हमारा सारा पिछला साहित्य मध्यम था। अतः उसे इतने विशाल शब्दकोष की आवश्यकता नहीं थी, जितने इस नये साहित्य को जो बीसवीं सदी के आरम्भ से हिंदी साहित्य में गद्य-रूप में

प्रवेश कर रहा था। इस शब्दकोष के लिए हमें अधिकतः संस्कृत का ही आश्रय लेना पड़ा। प्रांतीय शब्दों, प्रादेशीय शब्दों और मुहावरों एवं सरल उर्दू शब्दों की उपेक्षा हुई।

(२) अनेक नये शब्द, मुहावरे और कुछ लोकोक्तियाँ अंग्रेज़ी से सहज अनूदित होकर हिंदी में आ गईं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आग्रह के साथ अंग्रेज़ी के विद्वानों और साधारण अंग्रेज़ी ज्ञान रखने वालों ने हिंदी में लिखना आरम्भ किया और यद्यपि द्विवेदी-जी ने भाषा-शैली की एकरूपता हाथ से न जाने दी, परन्तु अंग्रेज़ी शब्द और मुहावरे इन लेखकों के साथ हिंदी में चलते सिक्के बन गये।

(३) पद्मसिंह शर्मा, सुदर्शन, प्रेमचंद जैसे दरजनों अच्छे लेखक पहले दशाब्द के बाद हिंदी के क्षेत्र में आये और उनके साथ नए उर्दू के शब्द भी आये। वैसे संतों और भक्तों तथा शृंगारिक कवियों के द्वारा फारसी-अरबी के अनेक शब्द तद्भव रूप से हिंदी में शताब्दियों से चल रहे थे परंतु इन लेखकों ने इस प्रकार के शब्दों को तत्सम रूप दे दिया और जो शब्द अपने साथ लाये उनका तत्सम रूप में भी प्रयोग किया। इस शुद्धता के आग्रह ने बाद में नई समस्या उत्पन्न कर दी। जब राजनैतिक नेताओं ने हिंदी की ओर ध्यान दिया तो वे हिंदू-मुसलमानों की भाषाओं में एकता स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे। और उनका ध्यान इन्हीं उर्दू से आये लेखकों की ओर गया। उनकी भाषा को ही वे हिंदी या हिंदुस्तानी कहने लगे। धीरे-धीरे उर्दू-फारसी शब्दों को अपनाने का उनका आग्रह भी तीव्र होता गया, यहाँ तक कि ये नए लेखक भी उनके साथ आदर्श पर पूरे नहीं उतर सके। इस परिस्थिति ने हिंदी के प्रेमियों में विरोध उत्पन्न किया। इंशा की तरह हरिऔध ने भी ठेठ भाषा का प्रयोग करके उसे शुद्ध हिंदी तथा आदर्श हिंदी कहलाने का प्रयत्न किया

था परन्तु वह प्रयोग असफल रहा।

भाषा-कोष के इन विभिन्न तत्त्वों के कम-अधिक समावेश के कारण शैलियों में विभिन्नता आना आवश्यक था। यह हुआ भी। परन्तु अब हिंदी की गद्य-शैली का समुचित विकास हो गया है और उसकी अपनी शैलियाँ हैं जो उर्दू गद्य-शैली से भिन्न हैं।

छायावाद-काव्य ने अपने व्यक्तित्व को मिश्रित रूप देने के लिए, बहुत कुछ आप्टे के कोष की सहायता से, नये संस्कृत शब्द हिंदी काव्य-कोष को दिये हैं। उसने अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों के शब्द-समूहों, वाक्यांशों और संयुक्त विशेषणों का संस्कृत के सहारे हिंदी में अनुवाद किया। इसके कवियों की गद्य-शैली संस्कृत-प्रधान और लाक्षणिक थी। इसने भी हिंदी भाषा-कोष पर प्रभाव डाला है। इन सब प्रभावों के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य का प्रभाव भी है। पिछले २० वर्षों में हमारे साहित्य में इस शाखा का विकास अभिनंदनीय रहा है। नागरी प्रचारिणी ने वैज्ञानिक कोष का संपादन करा कर वैज्ञानिक शब्दावली को निश्चित करने की चेष्टा की है। अनेक उपयोगी ग्रंथों के लेखक अंग्रेज़ी में ही अपने विषयों का अध्ययन अध्यापन करते हैं और वे इस कोष की सहायता से ही हिंदी साहित्य की वृद्धि करते हैं। जैसे-जैसे हिंदी गद्य-पद्य कला की वस्तु होता गया हैं, जैसे-जैसे उनमें शैलियों की निश्चिंतता आती गई, वैसे-वैसे उसने मधुर, सौन्दर्यपूर्ण, शक्तिवान शब्दावली का निर्माण करने की चेष्टा की। यही कारण है कि कितने ही ऐसे संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग हिंदी में होता है जिनके लिए संस्कृत से ही लेकर हिंदी व्याकरण के आधार पर नये सरल शब्द पहले ही गढ़ लिये गये हैं। यह कहना अनावश्यक है कि आधुनिक खड़ी बोली हिंदी में ६० प्रतिशत से अधिक संस्कृत या संस्कृत से आये तत्सम शब्दों का प्रयोग हो रहा है। जैसे-जैसे हिंदी गद्य-पद्य कलात्मक विकास को

प्राप्त होगा, यह तत्समता बढ़ती ही जायगी। महायुद्ध के बाद के शैलीकारों में बाबू जयशंकर प्रसाद, बाबू प्रेमचंद, रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, मुंशी शिवपूजन सहाय, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जैनेन्द्रकुमार जैन और सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन प्रमुख हैं।

इस नई शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निबंधों का एक छोटा-मोटा साहित्य उपस्थित हो गया था। उसके गुण थे — विषय की विभिन्नता और लेखकों की वैयक्तिकता। अधिकांश निबंधों में हास-परिहास एवं व्यंग का पुट भी रहता था। यह निबंध-साहित्य अनेक विषयों को लेकर चला था। समाज के पर्व, तीज-त्योहार, सामाजिक कुरीतियाँ, नवीन और पुराचीन समाज पर व्यंग और आक्षेप साहित्य के अनेक अंगों पर चमत्कारपूर्ण उद्भावनाएँ, हलके विचार—ये भारतेन्दु के परवर्ती लेखकों के निबंधों की कुछ विशेषताएँ थीं जिनका जन्म भारतेन्दु के साहित्य ही में हो चुका था। अधिकांश निबंध-साहित्य पत्रों के द्वारा प्रकाशित हुआ, विशेषतः 'हिंदी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' के द्वारा और इनके संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र उस समय के उत्कृष्ट शैलीकार थे।

परन्तु धीरे-धीरे निबंध कम लिखे जाने लगे। वैयक्तिकता का ह्रास हुआ। द्विवेदीजी के आग्रह से नये लेखक आये और उन्होंने अनेक नवीन विषयों पर निबंध लिखे परन्तु न तो शैली के विचार से, न भाव-गांभीर्य के विचार से ये महत्त्वपूर्ण हैं। लेखक विषय को स्पर्शमात्र करके रह जाते हैं। वे विषय की गहनता में प्रवेश नहीं करते, न उसकी सूक्ष्म विवेचना करते हैं। उनके विषय भी ऐसे नहीं हैं जो प्रतिदिन के जीवन एवं जनता से संबंधित हों। वास्तव में उनमें सजीवता की मात्रा बहुत थोड़ी है। इस समय भी पुस्तकों के रूप में निबंध बहुत कम आये। अधिकांश निबंध-साहित्य मासिक पत्रों द्वारा प्रकाशित

हुआ परन्तु सच्चे मानी में निबंध बहुत ही कम थे। जो थे भी, उनमें मौलिकता का नितांत अभाव था। अधिकांश लेखक मराठी, बँगला या अंग्रेज़ी निबंधों या पुस्तकों को अपना आधार बनाते थे और कभी-कभी उन्हें संक्षेप रूप में उपस्थित मात्र कर देते थे। ऐसे प्रयत्नों में नवीनता, मौलिकता और विशिष्ट शैली ढूँढ़ने का प्रयास ही व्यर्थ है।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि इस युग में भी, पिछले युग की तरह जनता की रुचि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने की ओर थी। अतः निबंध लेखकों का प्रयत्न अपने विविध निबंधों में प्रामाणिक सामग्री भरने की ओर ही अधिक थी। अधिकांश निबंध लेखकों पर भाषा, शैली और विषय-विभाजन की दृष्टि से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रभाव था। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंध अनेक विषयों पर थे और अनेक शैलियों में थे। कहीं तो वे व्याकरण पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, कहीं कथा के तत्त्वों का आश्रय लेकर निबंध को हल्का कर देते हैं, कहीं अपने व्यक्तित्व को सामने लाकर अथवा व्यंग का सहारा लेकर उसमें उत्कृष्ट वैयक्तिक गुणों की स्थापना करते हैं। उनके सहयोगियों और उनसे प्रभावित लेखकों में भी यह वैभिन्न्य है। अंग्रेज़ी से जो लेखक आये थे वह बेकन, चार्ल्स लेम्ब्स, ऐडिसन और स्टील के निबंधों से परिचित थे। इससे उन्होंने इन अंग्रेज़ी लेखकों के अनुकरण पर एक बार फिर उस वैयक्तिक निबंध शैली और वैयक्तिक शैली की सृष्टि की जो पं० प्रतापनारायण मिश्र की विशेषता थी। परन्तु जहाँ पं० प्रतापनारायण मिश्र में वैयक्तिकता प्रांतीय शब्दों, हास-परिहास और लेखक की मनोरंजन प्रवृत्तियों के कारण आती है, वहाँ इन नए लेखकों ने पश्चिमी कला का सहारा लिया। कालिदास कपूर की "छड़ी की कहानी" इस प्रकार के निबंधों का उत्कृष्ट उदाहरण है। यद्यपि इस प्रकार के नए निबंधों का जन्म हो गया

था, परन्तु ऐसे निबंध द्विवेदी युग में (महायुद्ध से पहले) कम ही मिलेंगे। हाँ दूसरे प्रकार के निबंधों की प्रधानता थी जिनमें ज्ञान उपेक्षित था यद्यपि बहुधा वह काव्यात्मकता एवम् भावात्मकता से प्रभावित होता था। ऐसे निबंधों के लिए वीथिका उपस्थित थी। जनता नवीन ज्ञान की याचक थी। उसे काव्य में रुचि थी। वह भावुक थी। साहित्य मे काव्यात्मकता और भावात्मकता का होना आवश्यक समझा जाता था। एक तीसरे प्रकार के निबंध एकदम कल्पनात्मक थे, जैसे "कवित्त" अथवा "इत्यादि की कथा"। इनका भी प्रधान गुण काव्यात्मकता ही था। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के बिना साधारण गद्य की प्राकृतिक भूमि पर तो ये दो कदम भी चल नहीं पाते थे। चौथे प्रकार के निबंध केवल ज्ञानपंडित थे। इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पहले ये मासिक-पत्रों, फिर पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों, पुस्तकों की भूमिकाओं और स्वयं निबंध पुस्तकों के रूप में सामने आये। गंभीर विषयों पर कितनी ही ऐसी पुस्तकें लिखी गईं जिनके परिच्छेदों का रूप निबंधों का था। सच तो यह है कि मासिक पत्रों में निबंध-लेखक की शिक्षा लेखकों को जो प्राप्त हुई, गंभीर विषयों पर पुस्तक लेखन उसी का विस्तृत रूप था।

निबंध के विषयों में जिस प्रकार की विभिन्नता थी—उसी प्रकार हम काव्य-गुणों से भरे हुए निबंधों से लेकर साधारण लिखे गये निबंधों की श्रेणी तक की चीज़ पाते हैं। वास्तव में, हिंदी गद्य की शैलियों का विकास निबंध-लेखन के द्वारा ही हुआ और बीसवीं शताब्दी के निबंधों का इतिहास हिंदी गद्य-शैली के विकास का इतिहास होगा, विशेषकर महायुद्ध से पहले, जब उपन्यास साहित्य का कलात्मक विकास नहीं हुआ था और कहानी-साहित्य में भाषा-शैली की दशा अत्यंत अपरिपक्व और अनिश्चित थी। द्विवेदी-काल में साहित्य ने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश किया, उसके अनुरूप ही

निबंध के विषयों और शैली की विभिन्नता है। सच तो यह है कि महायुद्ध से पहले तक का हिंदी साहित्य निबंधों के बल पर ही महान् होगा। अगले २० वर्षों में उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य-काव्य अनेक शैलियाँ लेकर विकसित हुए, परन्तु इन पहले १५-१६ वर्षों में इनका इतना उच्च कोटि का विकास नहीं हो पाया था। अतः निबंध ही साहित्य था। उसमें हमें एक साथ ही कहानी, नाटक और उपन्यास एवं काव्य के तत्वों के दर्शन हुए। इस समय कुछ एकदम काव्यात्मक निबंध भी लिखे गए हैं। अगले वर्षों में गीतांजलि के प्रभाव के साथ जिस गद्य-काव्य का प्रवेश हुआ, तदनंतर विकास हुआ, उसका बीच ऐसे निबंधों में ही ढूँढ़ा जाना चाहिये।

महायुद्ध के बाद वैज्ञानिक चिंतन की प्रवृत्ति बढ़ी और लेखकों में मौलिकता का जन्म हुआ। इसका फल यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओं द्वारा एक वृहद निबंध-साहित्य तैयार हो गया। आज इसका एक महत्त्वपूर्ण भाग पुस्तकों में परिगणित हो गया है। इस काव्य के निबंध-लेखकों में प्रमुख रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीनाथ सिंह, श्रीराम शर्मा, जैनेन्द्र और प्रेमचंद हैं। इनमें से प्रत्येक की भाषा-शैली, चिंतन-धारा और वैयक्तिकता की दृष्टि से अपना-अपना स्थान है। इन लेखकों ने जो साहित्य उपस्थित किया है उसका अधिकांश भाग गंभीर है। ललित निबंधों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। नई पीढ़ी के कुछ लेखक जैसे केदारनाथ गुप्त, बालेन्दु कुमार, रघुबीर सिंह और सर्वदानंद इस ओर अवश्य मुड़े परन्तु उनकी ओर जनता और साहित्यिकों का ध्यान नहीं गया। फल यह हुआ कि साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग के नाम पर दो-चार निबंधों से अधिक हमारे पास नहीं हैं। अधिकांश लेखक विषय की गहनता, वैज्ञानिक विवेचन की प्रवृत्ति और गंभीरता के आदर के कारण ललित

निबंधों की ओर नहीं गये।

द्विवेदी युग की आलोचना ने आधुनिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। १६वीं शताब्दी में जो थोड़ी-बहुत आलोचना हुई, वह मासिक-पत्रों में हुई। पुस्तकाकार कोई आलोचना सामने नहीं आई। कदाचित् इसी कारण विशेष अध्ययनपूर्ण आलोचनाओं की परम्परा न चली। किसी एक लेखक या कवि को लेकर उसके साहित्य के संबंध में निश्चित करना उसी समय संभव है जब लेखक स्फुट निबंधों से दृष्टि हटा कर पुस्तकाकार समालोचना की ओर बढ़े। इस युग में हम सर्वप्रथम पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को इस ओर बढ़ते पाते हैं। उनकी "हिंदी कालिदास की आलोचना" (१८६६), विक्रमांकदेव चरितचर्चा (१६००), नैषध-चरितचर्चा (१६०१) और कालिदास की निरंकुशता ने इस ओर पहला प्रकाश दिखाया। यह ध्यान देने की बात है कि इनमें से अधिकांश रचनायें खंडनात्मक हैं, विधेयात्मक नहीं। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने सरस्वती में पुस्तक-परीक्षा की एक शैली चलाई। उससे प्रभावित होकर कई मासिक-पत्रों ने पुस्तक परीक्षा को स्थान दिया। इस प्रकार परिचयात्मक समालोचना का एक विशाल साहित्य तैयार हो गया परंतु उसमें द्विवेदी जी के अनुकरण में लेखकों की त्रुटियाँ ही दिखाई जातीं, उनके गुणों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। इन आलोचनाओं में द्विवेदीजी का लक्ष्य साहित्य नहीं, भाषा होता था। इसने हिंदी के भाषा-क्षेत्र से अनिश्चितता दूर करने में सहायता दी और लेखकों को भाषा-सुधार के लिए विवश किया।

द्विवेदीजी के अतिरिक्त इस युग के दूसरे बड़े आलोचक मिश्रबंधु थे। इन्होंने गुण-दोष-विवेचन को समालोचना का आदर्श बनाया परंतु नींव गहरी नहीं दी। इन्होंने कवियों का श्रेणीबद्ध विभाजन किया और उसका सहारा लेकर चटपटी बातें कहने की शैली का

आविष्कार किया। साहित्य-क्षेत्र में इसका प्रभाव भी अधिक पड़ा। वास्तव में मिश्रबंधु की आलोचना ऊँची श्रेणी की न थी। इस समय दो और प्रसिद्ध आलोचक पद्मसिंह शर्मा और कृष्ण विहारी मिश्र ने देव-विहारी का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया। इन पुस्तकों से ही आलोचना के क्षेत्र में प्रचार-भावना का सूत्रपात हुआ। वास्तव में इसका बीज रूप मिश्रबंधुओं की आलोचना में ही मिलता है। 'हिंदी नवरत्न' में उन्होंने देव को विहारी से बड़ा बतला कर विहारी के भक्तों को क्षुब्ध कर दिया था। लाला भगवानदीन 'दीन' ने 'विहारी और देव' नाम की पुस्तक इसी वाद-विवाद के सिलसिले में लिखी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने आलोच्य कवि (विहारी) को साहित्यिक परंपरा के बीच में रखकर उनकी उत्कृष्टता सिद्ध की परंतु उन्होंने वैज्ञानिक, संतुलन-शील, गंभीर-विवेचन-पद्धति को छोड़कर उर्दू मुशायरों के ढंग की वाह-वाही ग्रहण की। मिश्रजी की पुस्तक अधिक साहित्यिक है। उसमें सहृदयता और मार्मिकता के दर्शन होते हैं, यद्यपि नवीनता विशेष नहीं। विहारी-संबंधी इन आलोचनाओं ने देव-विहारी को लेकर एक-एक साहित्यिक वितंडावाद ही शुरू कर दिया और इसके फलस्वरूप समाचार-पत्रों में पक्ष और विपक्ष में बहुत से लेख निकले जिनका आज आलोचना-साहित्य में कोई भी महत्त्व नहीं है। उनमें न किसी गहरे अध्ययन को स्थान मिला, न सहृदयता को। इन्होंने तुलनात्मक आलोचना की बाढ़ ला दी जिसमें अध्ययन और रुचि-संस्कार का अभाव था। मासिक-पत्रों में कवियों के किन्हीं दो पद्यों को लेकर ऊहात्मक ढंग पर साम्य स्थापित करके व्यर्थ के पृष्ठ रँगे जाने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में समालोचना-क्षेत्र में विशेष काम तो हुआ और हिंदी प्रेमियों का ध्यान साहित्य के इस अंग की ओर आकर्षित हुआ, परन्तु वह रूढ़िगत है, उच्चकोटि का नहीं।

द्विवेदी युग की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'मिश्रबंधु विनोद' है जिसमें नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों की सामग्री को ऐतिहासिक क्रम से रखने के साथ-साथ कवियों के विषय में छोटी-बड़ी आलोचनाएँ लिखने का भी प्रयत्न किया। यह पुस्तक १९१३ ई० में तीन भागों में प्रकाशित हुई और इसीने पहली बार सर्च-रिपोर्टों से प्राप्त सामग्री एक साथ सर्व-सुलभ बना कर हिंदी साहित्य की विशदता और उसके महत्त्व की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। १९२५-२६ ई० में इस वृहत् ग्रंथ के दूसरे संस्करण में सामग्री में और भी वृद्धि कर दी गई और नवीन खोज से प्राप्त सामग्री को स्थान दिया गया। हिंदी के महान कवियों की विशद समीक्षा भी इन्होंने उपस्थित की। 'नवरत्न' (१९१० ११) ने ही पहली बार इस दिशा में उच्च श्रेणी की पाठ्य-सामग्री उपस्थित की। समालोचना के क्षेत्र में इस पुस्तक के स्वागत और विरोध का एक अपना इतिहास है और हिंदी समालोचना के इतिहास का कोई भी प्रेमी इससे अपरिचित नहीं रह सकता।

इन प्रसिद्ध-समालोचकों के सम-सामयिक कितने ही छोटे-बड़े समालोचक हमारे सामने आते हैं जिन्होंने स्वतंत्र पुस्तकें लिख कर या पत्रों में लेख लिख कर हिंदी समालोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इनमें से कितने ही कवि थे जो "असफल लेखक (या कवि) समालोचक बन बैठा" की कहावत चरितार्थ करते थे। इनकी आलोचना का आधार न कवि का काव्य होता था, न पूर्वी आलोचना-शैली, न पश्चिमी। इन्होंने अपने संस्कारपूर्ण हृदय पर काव्य-द्वारा पड़े प्रभाव को मुख्य माना और आलोचना-साहित्य को रचनात्मक साहित्य की भाँति वैयक्तिक और रुचि-आश्रित बना दिया। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी इनमें प्रधान हैं। नवयुवक लेखकों पर इन रचनाओं का विशेष प्रभाव पड़ा। पहले धर्म के गम्भीर आलोचकों ने

इस वर्ग के अधिकार को न मानते हुए उसकी रचनाओं की आलोचना की और छायावाद काव्य को व्यक्तिवाद के कुहासे से निकालने की चेष्टा की परन्तु छायावाद के पोषक वर्ग में कुछ अधिक प्रतिमादान, संयत, अध्ययनशील और चिंतक लोग भी हैं। इनमें सबसे प्रमुख श्री नंददुलारे वाजपेयी हैं। इन्होंने पुराने और नये दोनों साहित्यों पर अत्यंत मार्मिक और अध्ययनशील आलोचनाएँ लिखीं। ये नवीन लेखकों के दृष्टिकोण को समझते, उनके साथ विकास को प्राप्त होते और संतुलन का संतुलन रखते हुए आगे बढ़ते गये। छायावादी कवियों और जनता के बीच में इन्होंने माध्यम का काम किया।

महायुद्ध के बाद समालोचना के क्षेत्र में नई शक्तियों ने पदार्पण किया। पिछले १८ वर्षों में द्विवेदीजी समालोचना के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक रहे और तुलनात्मक तथा निश्चयात्मक ढंग की आलोचनाएँ चलती रहीं। युद्ध के बाद के लेखकों ने आलोचना-सम्बन्धी निश्चित सिद्धांत लेकर क्षेत्र में उतरना आरंभ किया। लेखकों का एक वर्ग पूर्व और पश्चिम की गम्भीर शास्त्रीय आलोचना के सिद्धांतों के मनन की ओर झुका। वह क्षेत्र में कुछ देर से उतरा, परन्तु उसमें आलोचना-शास्त्र को बहुत दूर तक पुष्ट एवं प्रभावित किया। उसकी दृष्टि पूर्व और पश्चिम के आलोचनात्मक सिद्धांतों के सम्मेलन की ओर इतनी न थी, जितनी पूर्व की रस-पद्धति को पश्चिमी आलोचना के दृष्टिकोण से परिमार्जित करके उसे साहित्य का मापदंड बनाने की ओर थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस वर्ग का प्रतिनिधित्व किया और उनसे प्रभावित होकर उनके शिष्य-सम्प्रदाय ने उनके कार्य को अनेक कवियों की रचनाओं और साहित्य-क्षेत्रों में फैलाया। शुक्लजी की तुलसी (१९२३), सूर (१९२५) जायसी की आलोचनाएँ, आलोचनात्मक निबंध, हिंदी साहित्य के इतिहास के सैद्धांतिक अंश और

काव्य में रहस्यवाद (१६२८) आधुनिक हिंदी आलोचना-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। दूसरे वर्ग के केन्द्र रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास थे। यह वर्ग मौलिकता के मापदंड पर पूरा नहीं उतरता। इसका कार्य पश्चिमी आलोचना-ग्रन्थों का अधिक सहारा लेता है। उसने अपने सिद्धांतों को प्रकाशित नहीं किया परन्तु भारतीय आलोचना परंपरा की रक्षा करते हुए पश्चिमी ढंग पर अच्छी आलोचनाएँ कीं। बाबू साहब के आलोचना-ग्रन्थ साहित्यालोचन (१६२२), भारतेन्दु हरिश्चंद्र, गोस्वामी तुलसीदास (१६३१), रूपकरहस्य (१६३२) और भाषा और साहित्य (१६३०) हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी भाषा पर महत्त्वपूर्ण निबंध भी लिखे हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पद्मनारायण आचार्य और बाबू साहब के अन्य शिष्यों ने इनके साथ अथवा स्वतंत्र रूप में उनके बतलाए हुए मार्ग पर चलकर आलोचना-साहित्य को पुष्ट किया है। तीसरा वर्ग ऐसे नव-युवकों का था जो छायावाद-काव्य के संरक्षण के लिए तत्पर हुआ। उनकी शैली बंगला आलोचना-शैली और अंग्रेज़ी साहित्य की १६वीं शताब्दी की आलोचना-शैली का प्रभाव है। इन आलोचकों का अध्ययन गहरा नहीं है, परन्तु कविता में इनकी अंतर्दृष्टि बहुत भीतर तक जाती है।

पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों में जीवन-चरित्र लिखने की परंपरा का भी पालन हुआ है और कितने ही जीवन-चरित्र हमारे सामने आये। जीवन-चरित्र लेखकों में पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू शिवनन्दन सहाय, पं० किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू राधाकृष्णदास प्रमुख हैं। इन लेखकों के चरित्रनायक हिंदी साहित्य के अर्वाचीन और प्राचीन लेखक, संस्कृत विद्वान्, सनातन धर्म के समर्थक सेठ-साहूकार, धर्म-प्रवर्तक आदि थे। साहित्य-रचयिताओं की ओर इनकी दृष्टि अधिक थी जिससे स्पष्ट है कि लेखक साहित्य को अन्य क्षेत्रों से अधिक

महत्त्व देते थे। पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू वीरों के चरित्रों पर कम लिखा गया। ऐसे महापुरुषों को इस काल में नाटकों का नायक अवश्य बनाया गया है।

द्विवेदीयुग का अधिकांश नाटक-साहित्य संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी से अनुवादित है। संस्कृत से अनुवाद करने वालों में राय-बहादुर लाला सीताराम, पं० सत्यनारायण कविरत्न, पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त महत्त्वपूर्ण हैं। बँगला नाटकों का अनुवाद सबसे अधिक हुआ। मुख्य अनुवादक हैं बाबू रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी, पं० रूपनारायण पांडेय। अंग्रेज़ी के अनुवाद लाला सीताराम, पुरोहित गोपीनाथ और पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने उपस्थित किये। इन अनुवादों की संख्या मौलिक नाटकों से कहीं अधिक है। मौलिक नाटक लिखने वालों में राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, बाबू शिवनन्दन सहाय और पारसी रंगमंच के लेखक पं० नारायणप्रसाद बेताब और राधेश्याम कथानायक प्रमुख हैं। नाटकीय कथा की दृष्टि से १९०० से १९१९ तक का नाटक-साहित्य एक श्रेणी के अन्तर्गत है। इस दो दशाब्द के लगभग समय में दो प्रकार के नाटक हिन्दी प्रदेश में चलते रहे। इन दोनों प्रकार के नाटकों की परंपरा १९ वीं शताब्दी से ही चली आती है। पहले लिखे प्रकार के नाटक पारसी स्टेज के लिए लिखे जाते थे और दूसरे प्रकार के नाटक भारतेन्दु स्कूल के नाटककारों द्वारा उपस्थित होते थे। इनका कोई भी रंगमंच नहीं था, परन्तु रंगमंच के आदर्शों के संबंध में ये पारसी रंगमंच को ही सामने रखकर चलते थे। पारसी रंगमंच के लिये लिखे जाने वाले नाटकों में कथा-विस्तार और चमत्कार की ओर ध्यान अधिक जाता था। साहित्यिक नाटकों में प्राचीन संस्कृत नाटकों के प्रभाव से रस की ओर अधिक दृष्टि थी, यद्यपि कथा-तत्त्व

की एकदम उपेक्षा यहाँ भी नहीं होती थी। अलबत्ता इन नाटकों पर रीतिकालीन वातावरण का प्रभाव था। उनमें कलातत्त्व की प्रधानता थी, कल्पना और बुद्धिवाद का ज़ोर था।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ से पारसी रंगमंच में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी का पारसी नाटक उर्दू भाषा में लिखा जाता था और उनमें उर्दू ही में लिखे छंदों और गजलों की भरमार थी। इस शताब्दी के आरंभ में इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। नारायणप्रसाद बेताब ने हिन्दी भजन और गीत का पारसी नाटक में प्रवेश कराया और पौराणिक विषयों को उपस्थित किया। शीघ्र ही आगा हश्र, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा, राधेश्याम कथावाचक एवं अन्य नाटककारों ने इन तत्त्वों को आगे बढ़ाया। पौराणिक नाटक शहर के मध्यवर्ग की जनता में इतने लोकप्रिय सिद्ध हुए कि इस प्रकार के नाटकों की बाढ़ आ गई। इन नाटकों में कुछ मूल कथावस्तु के कारण, कुछ सिनेमा कम्पनियों की प्रतिद्वन्दता के कारण अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों का बोलबाला था। प्रेक्षक के सामने जो आये, वह अभूतपूर्व हो। वह स्तंभित रह जाये। दृष्टिकोण कुछ यही था। पारसी कम्पनियाँ सीन-सीनरियों से माला-माल थीं। परदों की फटाफट में उच्च नाटकीय कला का स्थान कहाँ हो सकता था?

कुछ नाटककारों ने पारसी रंगमंच के प्रभाव को दूर रखा। ऐतिहासिक कथावस्तु में वर्तमान समस्याओं को लेकर प्रहसन जोड़ना और अधिकारिक वस्तु के साथ-साथ एक प्रासंगिक वस्तु भी चलाना उन्हें रुचिकर नहीं हुआ। फलतः उन्होंने पौराणिक वस्तु से स्वतंत्रता लेते हुए कुछ हास्य-प्रधान विशिष्ट पात्रों का समावेश किया और मूल कथा में भी हास्य की योजना की। इस प्रकार कथा-वस्तु की एकता बनी रही और नाटक की रचना में कलातत्त्व पर अधिक ध्यान

दिया जा सका। बदरीनाथ भट्ट का 'कुरुवनदहन' इसी प्रकार का नाटक है। अन्य पौराणिक नाटक नेत्रोन्मीलन (मिश्रबंधु), महाभारत (माधव मिश्र), कृष्णार्जुन-युद्ध (माखनलाल चतुर्वेदी) और वरमाला (गोविन्दवल्लभ पंत) हैं। परन्तु यह निश्चित है कि द्विवेदी-युग में मौलिक नाटकों की रचना बहुत कम हुई। द्विजेन्द्र-लाल राय और गिरीशचंद्र घोष के ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों के अनुवादों से साहित्य भरा हुआ था। निकट प्रान्त के इतने समृद्ध साहित्य के सन्मुख हिंदी लेखकों को मौलिक रचना की प्रेरणा न होती तो आश्चर्य होता। अतः इस क्षेत्र में कई नई शक्तियों का आविर्भाव हुआ। इनमें जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण जौहर, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, माखनलाल चतुर्वेदी, बदरीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, लक्ष्मी-नारायण मिश्र, गोविंददाससेठ और उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सुदर्शन, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत और प्रेमचंद आदि ने भी नाटक लिखे, परन्तु इन लेखकों ने दूसरे क्षेत्रों में अधिक महत्त्वपूर्ण काम किया।

महायुद्ध के बाद की सबसे प्रधान बात यह है कि नाटकों की एकरूपता नष्ट हो गई है। उस पर विदेशी नाटकों का प्रभाव बहुत बड़ी मात्रा में पड़ा है और पात्रों के संबंध में नाटककारों में विस्तृत विवेचना और रंगमंच के लिए संकेत देने की प्रथा चली है जिससे नाटक उपन्यास के अधिक निकट आने लगा है। पश्चिमी नाटककारों के अनुकरण में लेखकों ने जीवन को एक नए दृष्टिकोण से देखना आरम्भ किया। उनमें किसी भी प्राचीन परंपरा और रूढ़ि के प्रति मान्यता नहीं रही। आकार में भी परिवर्तन हुआ। नाटक तीन ही अंकों में समाप्त होने लगे और उनमें प्रासंगिक कथा-वस्तु का अभाव होने लगा। अनुवादों की मात्रा कम हो गई और जो अनुवाद हुए

उनमें साहित्यिकता और कला ऊँचे दरजे की थी। पहले कुछ वर्ष बँगला के ही नाटक कुछ अधिक अनुवादित हुए परन्तु धीरे-धीरे इतर प्रांतों और पश्चिमी देशों के महत्त्वपूर्ण नाटकों का अनुवाद हुआ। बँगला अनुवादकों में रूपनारायण पांडेय और रामचंद्र वर्मा काम करते रहे। कुछ अन्य अनुवादक भी आये जिनमें प्रमुख थे—धन्यकुमार जैन, जी० पी० श्रीवास्तव, लल्लीप्रसाद पांडेय, क्षमानंद राहत, रामलाल अग्निहोत्री, पदुमलाल बख्शी, ललिताप्रसाद शुक्ल, प्रेमचंद, डा० लक्ष्मणस्वरूप और डा० धीरेन्द्र वर्मा।

द्विवेदी-युग में रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास का ही बोलबाला रहा। अनुवाद और मौलिक दोनों प्रकार के उपन्यासों का एक बड़ा साहित्य सामने आया। अनुवाद करनेवालों में बाबू गोपालराम गहमरी, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पं० रूपनारायण पांडेय विशेष उल्लेखनीय हैं। अनुवाद विशेषतः बँगला भाषा और अंग्रेज़ी से हुए, परंतु मराठी और उर्दू के भी अनेक उपन्यास अनूदित हुए। इन अनुवादों ने हिंदी भाषा को सैकड़ों नये शब्द और प्रयोग दिये, परन्तु यह भी निश्चित है कि इनके कारण सामान्य हिंदी शैली को आघात पहुँचा। अनेक अटपटे शब्द और प्रयोग भी अनुवादकों की असमर्थता के कारण आ गये थे। मौलिक उपन्यासकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण देवकीनंदन खत्री, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, हरिऔध, बाबू व्रजनंदन सहाय और प्रेमचंद (धनपतराय) हैं। जहाँ हरिऔध ने इशा की 'रानीकेतकी की कहानी' की परंपरा को बढ़ाते हुए ठेठ हिंदी भाषा का प्रयोग किया, वहाँ प्रेमचंद और देवकीनंदन खत्री ने मिली-जुली हिन्दुस्तानी की नींव डाली। शेष उपन्यासकार तत्समप्रधान भाषा का प्रयोग करते रहे। द्विवेदी-युग के सबसे बड़े उपन्यास कल्याणी (मन्नन द्विवेदी, १९१८), प्रेमाश्रम (१९२१), रंगभूमि (१९२२), कायाकल्प (१९२४), देहाती दुनिया (शिवपूजन सहाय, १९२५),

मां (कौशिक) और 'चंद हसीनों के खतूत' (उग्र, १९२५-२६) हैं। धीरे-धीरे कलात्मकता की वृद्धि होती गई है और औपन्यासिक सौष्ठव और भाषा-शैली के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। महायुद्ध के पहले चरित्रप्रधान और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अधिक विकास नहीं हुआ, परंतु महायुद्ध के बाद हमारे उपन्यास-साहित्य में इसी प्रकार के उपन्यासों की प्रधानता हो चली। इस युग के विशिष्ट उपन्यासों का विषय समाज और राजनीति क्षेत्र के आन्दोलन हैं और ये एक प्रकार से समसामयिक इतिहास के रूप में भी उपस्थित किये जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण इनमें प्रधान बात है परंतु चरित्र का विकास कदाचित् प्रेमचंद और कौशिक के उपन्यासों को छोड़कर और कहीं नहीं है। हम चरित्र-चित्रण को हाथ में लेते ही दो दल हो गए, एक यथार्थवादी दूसरा आदर्शवादी। प्रेमचंद की कला में दोनों का समुचित मेल होने के कारण उनके उपन्यास महायुद्ध के बाद के दशाब्द के श्रेष्ठतम उपन्यास हैं।

महायुद्ध के बाद ही एक ऐसा कथाकार-वर्ग उठ खड़ा हुआ ज 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त को अपना आदेश मानकर चलता है। यह 'कला कला के लिए' की चिल्लाहट पिछले युग की अति-नैतिकता के प्रति प्रतिक्रिया थी जिसमें आस्कर वाइल्ड, रेनाल्ड और ज़ोला जैसे पश्चिमीय कलाकारों को गुरु मानकर चलना होता था। इस कलावर्ग के प्रतिनिधि आचार्य चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण और उग्र थे। इस वर्ग ने अपने विषय के लिए वेश्याओं, दलालों, चाकलेटों और विकृत मनुष्यों को चुना। परंतु भाषा और शैली के कलात्मक प्रयोग की दृष्टि से, चाहे विषय की दृष्टि से न हो, इनका स्थान महत्वपूर्ण है। 'उग्र' के 'चंद हसीनों के खतूत' (उपन्यास) और 'कला' 'बुढ़ापा' जैसी कहानियों में हमें जिस भाषा-शैली का पहली बार परिचय मिला, वह शक्ति, सजीवता, चित्रमयता और प्रवाह में

अद्वितीय थी। इस भाषाशैली के आकर्षण के कारण यह वर्ग बहुत ही शीघ्र अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। संक्षेप में महायुद्ध के बाद कई मौलिक उपन्यासकारों ने प्रवेश किया और हमारे उपन्यास-साहित्य में साहित्य के सब अंगों से अधिक वृद्धि हुई। इस समय के प्रमुख उपन्यासकार प्रेमचंद, विश्वम्भरनाथ कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन, चंण्डीप्रसाद हृदयेश, अवधनारायण, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन, विनोद-शंकर व्यास, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जैनेन्द्र-कुमार जैन, गिरिजाशंकर गिरीश, शिवपूजन सहाय, सियारामशरण सिंह, जी० पी० श्रीवास्तव और अन्नपूर्णानन्द हैं।

हिंदी कथा-साहित्य के इतिहास में १९३६ बड़ा महत्वपूर्ण वर्ष है। इसी बीच प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' और जैनेन्द्र-कुमार का उपन्यास 'सुनीता' प्रकाशित हुआ। पिछले उपन्यासों से इन उपन्यासों का दृष्टिकोण नितांत भिन्न था। १९१६ ई० में 'सेवासदन' के प्रकाशन के साथ हिंदी उपन्यास का सुधारवादी एवं गांधीवादी युग प्रारंभ होता है। लगभग २० वर्ष तक इसी सुधारवादी एवं गांधीवादी विचारधारा का साम्राज्य रहा। 'गोदान' और 'कफ़न' में प्रेमचंद पहली बार एक नये दृष्टिकोण की ओर बढ़ते हुए दिखलाई पड़ते हैं। प्रेमचंद (मृ० १९३६) के बाद हिंदी उपन्यास ने कई नवीन दिशाएँ ग्रहण कीं। पिछले दस वर्षों में न 'गोदान' जैसा कोई उपन्यास ही हमें मिला है न प्रेमचंद जैसा कोई मेधावान कथाकार, परंतु इसमें संदेह नहीं है कि नये साहित्य में उपन्यास और कहानी ही सबसे शक्तिशाली और प्रगतिशील हैं। भाषा-शैली के जितने प्रयोग तरुण उपन्यासकारों ने किए, उतने प्रयोग गद्य के सब क्षेत्रों में मिला कर भी नहीं हुए। प्रेमचंद के बाद जो उपन्यासकार नई शक्तियाँ लेकर हिंदी में आये उसमें सबसे महत्वपूर्ण हैं सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जैनेन्द्रकुमार जैन, राहुल सांकृत्यायन, सियारामशरण गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क, इलाचंद जोशी, यशपाल, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, और भगवतीचरण वर्मा। तरुण उपन्यासकारों में रांगेय राघव, राधाकृष्ण, रामचन्द्र और गंगाप्रसाद मिश्र ने बड़ी शक्ति से प्रवेश किया है और हिंदी उपन्यास को उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। सच तो यह है कि १९३६ के बाद जितना विकास उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में हुआ है उतना और किसी क्षेत्र में नहीं हुआ। उपन्यास लिखने के ढंग में तो इतना परिवर्तन हो गया है कि प्रेमचंद के उपन्यास बहुत पीछे छूट गये हैं। इस क्षेत्र में कलात्मक प्रयत्न जैनेन्द्रकुमार ने किये और अनेक लेखक अपनी व्यक्तिगत शैली गढ़ने में सफल हो गये हैं।

पिछले दस वर्षों में कहानी ने भी चतुर्दिक प्रगति दिखलाई है। आज सैकड़ों की संख्या में कलात्मक कहानियाँ हमारे साहित्य में आ गई हैं और हम पूर्व-पश्चिम के किसी भी साहित्य के समकक्ष अपना कथा-साहित्य रख सकते हैं। नई कहानी का आरंभ प्रेमचंद की कहानियों से ही होता है। उनके कफ़न (१९३७) संग्रह ने हिंदी के तरुण कहानीकारों को नई दिशा दी। नए कहानी लेखकों में प्रमुख हैं जैनेन्द्रकुमार, राधिकारमणसिंह, कृष्णानन्द गुप्त, यशपाल, पहाड़ी, अमृतलाल नागर, निराला, किशोर साहू, राहुल सांकृत्यायन, धर्मवीर भारती और अमृत राय। अनेक अन्य कहानीकार भी हैं। इन कहानीकारों की रचनाओं में कला के अनेक विधान मिलेंगे और सामयिक जीवन, इतिहास तथा संस्कृति के अनेक अंगों का स्पर्श किया गया है।

रंगमंच की जीवित परंपरा के अभाव में हिन्दी में नाटक-लेखक परंपरा-पालन मात्र रहा है। वह जीवित स्पंदित साहित्य नहीं बन सका हैं। आधुनिक नाटककारों में प्रमुख हैं लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्र-

नाथ अश्क, गौरीशंकर सत्येन्द्र, जनार्दनराय, हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावन-वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, मुरारि मांगलिक, विश्वम्भरसहाय, गोविन्ददास सेठ, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और रामकुमार वर्मा। अधिकांश नाटकपाठ्य-नाटक मात्र हैं। पिछले दस वर्षों के सबसे महत्वपूर्ण नाटक-कारलक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास हैं। कला की दृष्टि से इनमें लक्ष्मीनारायण मिश्र का स्थान अधिक ऊँचा है। पिछले १०-१५ वर्षों से एकांकी नाटक के रूप में नाटकों के एक नये प्रकार का सृजन हो रहा है। विश्वविद्यालयों और कालेजों के छात्र विशेष उत्सवों पर इन्हें तीस-चालीस मिनटों के लिए अभिनीत कर लेते हैं, परन्तु इनका क्षेत्र सीमित है। इस क्षेत्र में सबसे सफल एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा हैं।

समालोचना, निबंध और भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनैतिक और दार्शनिक एवं धर्मशास्त्रीय विषयों पर पिछले दस वर्षों में बहुत कुछ लिखा गया है। वास्तव में पिछले दस वर्ष गद्य-साहित्य में तर्क-वितर्क और मत-स्थापन्न संबन्धी संघर्षों के लिए महत्वपूर्ण हैं। ज्ञान-विज्ञान और साहित्य-शास्त्र की अनेक शाखाओं की पिछले दशाब्द की प्रगति इतनी अधिक और इतनी बहुमुखी है कि संक्षेप में उसका वर्णन करना ही कठिन हो जाता है।

विचारधारा और भाषाशैली दोनों की दृष्टि से पिछले दस वर्षों में निबंध ने वामन के पग धरे हैं। भाषा की दृष्टि में कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं—कुछ विचार (प्रेमचन्द, १९३९), शेष स्मृतियाँ (डा० रघुवीर सिंह, १९३९), चिन्तामणि (रामचन्द्र शुक्ल, १९३९), सच-झूठ (सियारामशरण, १९३९), विचारधारा (डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९४२) और शृंखला की कड़ियां (महादेवी वर्मा, १९४२)। परन्तु इन कुछ ग्रंथों का नाम भर देनेसे निबंध-साहित्य की प्रगति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। सैकड़ों मासिकपत्रों, साप्ताहिकों, दैनिकों के अग्र-लेखों और

ज्ञान-विज्ञान-संबंधी ग्रंथों में जो साहित्य प्रतिदिन सहस्रों पृष्ठों में हमारे सामने आती है, वह वस्तुतः निबंध-साहित्य ही है। सच तो यह है कि आधुनिक युग में हमारे विचार और हमारी अनुभूति को निबंध ही सबसे अधिक सुन्दर रूप में प्रगट कर सकता है।

३

हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी [१]

हिंदी और उर्दू की समस्या के दो अंग हैं—पहले का संबंध हिंदी प्रदेश से है, दूसरे का सारे भारत राष्ट्र से। बात सुलझी रहे, इसलिये हम इन पर अलग-अलग विचार करेंगे। पहले हम समस्या के उस पहलू पर विचार करेंगे जिसका संबंध केवल हिंदी प्रदेश से है।

हिंदी प्रदेश से हमारा तात्पर्य, बिहार, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, दिल्ली, अजमेर, राजपूताना तथा मध्य भारत एजेंसी से है। इस बड़े भू-भाग में बोलचाल के लिये अनेक बोलियों का प्रयोग होता है, परन्तु शिष्ट भाषा और नगरों की भाषा के रूप में खड़ी बोली ही व्यवहार में आती है। संयुक्त प्रांत और दिल्ली को छोड़ कर शेष समस्त हिंदी प्रदेश के सामने हिंदी-उर्दू की कोई समस्या ही नहीं है। शिष्ट भाषा में संस्कृत-प्रधान खड़ी बोली ही काम में आती है। बिहार, मध्य प्रांत, दिल्ली तथा अजमेर की साहित्यिक भाषा भी यही संस्कृत-बहुल हिंदी है जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। बोल-चाल के लिए जैसे अन्य भागों में प्रान्तीय बोली या प्रादेशिक भाषा चलती है उसी प्रकार यहाँ भी चलती है। रह गये संयुक्त प्रांत और दिल्ली। यहाँ की परिस्थिति विचित्र है और यहाँ साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली के दो रूप चल रहे हैं—एक को हिंदी कहा जाता है, दूसरी को उर्दू। हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, उर्दू फ़ारसी लिपि में। खड़ी बोली के उन दोनों रूपों में जो साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार हुये हैं, व्याकरण की लगभग समानता है। उर्दू में फ़ारसी व्याकरण

का कुछ अंश अवश्य है जैसे संबंध-बोधक विभक्ति के लिए इज़ाफ़त का प्रयोग। शब्द-कोष की दृष्टि से हिंदी खड़ी बोली भारतीय भाषाओं की परंपरा से अधिक निकट है। साहित्य की दृष्टि से दोनों में महान् अंतर है। उर्दू का साहित्य फ़ारसी के ढाँचे में ढला है—छन्द फ़ारसी, भावना ईरानी (सामी), उपमा-उत्प्रेक्षाएँ विदेशी। उत्तर पश्चिमी हिंदी प्रदेश का अधिकांश भाग और अन्य भागों की मुसलमान जनता इसी साहित्य को पढ़ती है। कायस्थ, काश्मीरी पंडित, अदालत-कचहरी के लोग, चाहे हिन्दू हों चाहे मुसलमान अब भी उर्दू साहित्य, भाषा और फ़ारसी लिपि को पकड़े चल रहे हैं यद्यपि उनमें प्रतिदिन हिंदी का अधिक प्रचार होता जा रहा है, विशेष कर कायस्थ वर्ग में। अब हमें यह देखना है कि इस प्रदेश में हिंदी-उर्दू समस्या का क्या रूप है। जहाँ तक साहित्य का संबंध है, कोई समस्या नहीं है। उर्दू और हिंदी का साहित्य अलग-अलग साहित्य है। दोनों की अलग-अलग परंपराएँ, अलग-अलग जातीय वृत्तियाँ, अलग-अलग पुराण (Myths)। एक यदि पृथ्वी है तो दूसरा आकाश। एक यदि पूर्व है, तो दूसरा पश्चिम। हिंदी की साहित्यिक परंपराएँ इसी देश की प्राचीन भाषाओं के साहित्य की परंपराएँ हैं। अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत (लौकिक और वैदिक) साहित्य की अनेक कथाओं और अनेक जीवंत साहित्यिक चेष्टाओं का ही हिंदी में विकास हुआ। हिंदी की सारी भक्ति साहित्य संस्कृत पौराणिक धर्म का उत्तर-विकास है। उर्दू की परंपराएँ, ईरान के फ़ारसी साहित्य से जुड़ी हैं। इस देश की किसी भी पूर्व-परंपरा से उसका संबंध नहीं है। साहित्य की दृष्टि से दोनों में महान् अंतर है। मुसलमान और कुछ हिंदू उर्दू साहित्य पढ़ते-लिखते हैं परन्तु हिंदू साहित्यिक धीरे-धीरे उर्दू साहित्य को छोड़कर हिंदी साहित्य की ओर आ रहे हैं। प्रेमचन्द उदाहरण हैं। हिंदू हिंदी साहित्य पढ़ते हैं। दोनों अपने-अपने साहित्य को पहचानते हैं और न उस साहित्य को छोड़ना

चाहते हैं, न साहित्यिक परम्पराओं को। उर्दू के साहित्यिकों से बराबर यह कहा जा रहा है कि फ़ारसी साहित्य की परम्पराओं और विदेशी भावनाओं को छोड़कर भारतीय परिधान स्वीकार करें, कुछ साहित्यिकों ने प्रयोग किये भी हैं, परन्तु अब भी उर्दू का नया साहित्य भारत की संस्कृति से दूर है। साहित्य की आवश्यकताओं के कारण भाषा संस्कृत-प्रधान या फ़ारसी-प्रधान रहती है। "भाषा सरल करो"—यह पुकार दोनों दलों में सुनाई पड़ती है परन्तु कथा-कहानी की भाषा को छोड़ कर सरलता किस प्रकार लाई जा सकेगी, यह देखना है। बोलचाल की शिष्ट भाषा के संबंध में भी कोई झगड़ा नहीं है। उस पर साहित्यिकों या सरकार का कोई नियंत्रण हो ही नहीं सकता। समस्या है शिक्षा और राजकाज-संबंधी। शिक्षा किस भाषा में हो, राजनैतिक कार्यों में किस भाषा का व्यवहार हो, कठिनाई इस जगह है।

शिक्षा- संबंधी समस्या का हल दो प्रकार से हो सकता है—या तो दोनों भाषाएँ और उनका पाठ्य-साहित्य अनिवार्य कर दिया जाय या पढ़ने वाले की इच्छा पर छोड़ दिया जाय कि वह दोनों में से किसी भाषा को स्वीकार करे। यह भी बात एकदम अनुचित होगी। जहाँ तक उर्दू भाषा का संबंध है, उसके बोलने वालों की संख्या हिन्दी प्रदेश में बहुत कम है, उसके साहित्य को समझने वालों की संख्या भी कम है, अतः सारे हिन्दी प्रदेश पर अनिवार्य रूप से हमे लड़ना अन्याय होगा। दोनों भाषाओं में शब्दकोश का ही भेद मुख्य है, अतः हिन्दी भाषा पढ़ने वाले को फ़ारसी शब्द जानने के लिए ही यदि उर्दू पढ़ना पढ़े तो यह शक्ति का अपव्यय होगा। यदि मुसलमान सभ्यता और संस्कृति से ही उसे परिचित कराना है, तो यह मार्ग ठीक नहीं है। क्या पाठ्य-पुस्तकों में इस्लामी कथायें नहीं दी जा सकतीं? क्या उसके नेताओं के जीवन-चरित जानने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें फ़ारसी लिपि और उर्दू भाषा में ही पढ़ा जाय? इसी तरह उर्दू

भाषा की पाठ्य-पुस्तकों में हिन्दू नेताओं, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू साहित्य के संबंध में पाठ रखे जा सकते हैं। शिक्षा-विभाग ने एक नया मार्ग ढूँढ निकाला है। भाषा सरल रहे, पाठ इस प्रकार रहें कि देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में एक ही पाठ लिखे जायँ। विहार प्रान्त में ऐसी पाठ्य पुस्तकों ने हिन्दी के समर्थकों को क्षुब्ध कर दिया था। इसका कारण यह था कि यह जानना कठिन था कि संस्कृत पर्याय कठिन है या फ़ारसी पर्याय और पाठ्य पुस्तकों में संस्कृत पर्याय के स्थान पर सभी जगह फ़ारसी शब्द रखे गये हैं। यही नहीं, सरल हिन्दी शब्दों के स्थान पर भी उर्दू शब्द रखे गये हैं— "राजा" के लिए "बादशाह" रानी के लिए "बेगम" घर के लिए 'मकान" । जहाँ नये पारिभाषिक शब्द गढ़े गये हैं, वहाँ यह प्रयत्न हास्यास्पद हो गया है जैसे " Tangent " के लिए 'घेराचूम' शब्द का प्रयोग । इस प्रकार न हिन्दी भाषा और साहित्य सुरक्षित है, न हिन्दी अथवा भारत के संस्कृति की परंपरा ही सुरक्षित रहेगी। इस नई मनगढ़ंत भाषा को "हिन्दुस्तानी" नाम दे कर चलाया जा रहा है।

जब तक बोल-चाल की व्यापक शिष्ट भाषा के लिए "हिन्दुस्तानी" शब्द का प्रयोग होता है अथवा उसे विशिष्ट एक नई भाषा माना जाता है, तब तक कोई मतभेद नहीं हो सकता है, यद्यपि दृष्टिकोण यहाँ भी ग़लत है। बोलचाल की भाषा भी साहित्यिक उर्दू ही है और उसे शिक्षित ही बोलते हैं। उर्दू पढ़े लिखों की भाषा में फ़ारसी शब्दों की अधिकता रहती है, हिन्दी पढ़े-लिखे वालों में संस्कृत शब्दों की । संस्कृति और सभ्यतामूलक विशेषताओं के कारण हिन्दू बोलचाल की भाषा में बहुत से संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर डालता है, मुसलमान अपनी आवश्यकता फ़ारसी-अरबी शब्दों से पूरी करता है। इसके अतिरिक्त प्रांतीय बोलियों (अवधी, ब्रज, बुन्देली

बघेली) आदि के भी बहुत से शब्द और प्रयोग मिल जाते हैं। परंतु इस बोल-चाल की भाषा में न साहित्य बना है, न बन सकता है, अतः शिक्षा के लिए इसका आग्रह ही व्यर्थ है। व्यवहार की भाषा व्यवहार के सिलसिले में सीख ली जाती है, उसके लिए परिश्रम और समय का अपव्यय बेकार है। प्रारंभिक शिक्षा साहित्य तक पहुँचने की सीढ़ी है। भाषा बोलना सिखाने के लिए हम लड़कों को स्कूल नहीं भेजते। जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्रों में दोनों भाषाएँ अलग-अलग चल रही हैं, उस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी चलें। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जब तक हम साहित्य के लिए एक भाषा न गढ़ सकते हैं, न गढ़ी भाषा का साहित्यिकों को स्वीकार करा सकते हैं, तब तक शिक्षा के लिए "हिन्दुस्तानी" का प्रयोग निराधार है। साहित्य में "हिन्दुस्तानी" का प्रयोग हो, यह चिल्लाहट हो रही है, परन्तु आज तक "हिन्दुस्तानी" भाषा में न कोई कविता लिखी गई है, न कोई उपन्यास।

राजनैतिक क्षेत्र में समस्या का हल कैसे हो? वास्तव में राजनैतिक क्षेत्र में हम न हिंदी बोलते हैं, न उर्दू, सामान्य शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें कोई संस्कृत शब्द बोलता है, कोई फ़ारसी। जो भाषा बोली जाती है, उसका लगभग वही रूप है। शिष्ट लोगों की व्यवहार की भाषा का रूप है। अंतर इतना है कि व्यवहार की भाषा लिखी नहीं जाती, इस भाषा को समाचार-पत्रों, रिपोर्टों आदि के रूप में लिखना पड़ता है अथवा पड़ेगा। समस्या का हल सरल है। बोलचाल की भाषा या राजनैतिक भाषा को हम स्वीकार कर लें; हाँ, वह देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में लिखी जाय। उसमें आवश्यकतानुसार फ़ारसी और उर्दू शब्दों का प्रयोग हो। इस भाषा में हिन्दी या उर्दू शब्दकोष और साहित्यिक शैलियों का ही प्रयोग होगा, अतः इसके लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। जब तक कोई हठ कर एकदम साहित्यिक उर्दू या हिन्दी न बोलने लगेगा,

तब तक यह भाषा दूसरे वर्ग को अगम्य होगी।

हिन्दी प्रदेश की मध्यवर्ती स्थिति, उसकी संस्कृति की केन्द्र स्थिति, उसका विस्तार और व्यवहार की भाषा के रूप में मध्ययुग से अब तक समस्त भारत में उसकी अखंड परम्परा इस बात को निश्चित कर देती है कि यहीं की भाषा राष्ट्रभाषा बनेगी। अब तक दो भाषाओं का प्रयोग राष्ट्रभाषा के रूप में होता है--अंग्रेज़ी उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग की राष्ट्रभाषा है, सामान्य जनता खड़ी बोली का ही प्रयोग करती है। काश्मीर से कन्याकुमारी और कराची से आसाम तक वस्तु-स्थिति यही है। अंग्रेज़ी प्रभुता के हटने की कल्पना करते ही अंग्रेज़ी भाषा के राष्ट्रभाषा रूप का भी अन्त हो जाता है। तब हिन्दी और उर्दू के समर्थक झगड़ने लगते हैं। परन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में न साहित्यिक हिंदी स्वीकार की जा सकती है न साहित्यिक उर्दू। जो भाषा सारे हिन्दी प्रदेश में प्रतिदिन के व्यवहार के लिए प्रयोग में आती है, वही भाषा प्रान्तीय शब्दों का मेल लेकर सारे भारत में व्यवहार में आती है और आती रहेगी। राज कार्यों के लिये हिन्दी प्रदेश की राजभाषा (हिन्दी कहिये या हिन्दुस्तानी कहिये या जो नाम दीजिये) का प्रयोग होगा। यह आवश्यक नहीं है कि उसे बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू के थोड़े ही समय में इसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य हो जायगा क्योंकि अन्य प्रांतीय भाषाओं में परस्पर और हिन्दुस्तानी में संस्कृत शब्दों की प्रधानता रहेगी। उदाहरण के लिए बँगला, मराठी और गुजराती में अनेक एक ही भाववाची संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है। जब बँगला, मराठी और गुजराती बोलने वाले पास-पास आयेंगे, तो यह समान शब्द अधिक प्रयोग में आयेंगे, यह निश्चित है। इस प्रकार थोड़े ही समय बाद राजकाज के रूप में व्यवहार में आने वाली राष्ट्रभाषा साहित्यिक हिन्दी के बहुत समीप आ जायगी। उर्दू के समर्थक कितना ही प्रयत्न करें, यह बात रोकी ही नहीं जा सकती। फिर भी जन-समाज में प्रचलित

राष्ट्रभाषा और इस राज-काज के बीचमें प्रचलित भाषामें पर्याप्त अंतर रहेगा ही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतराष्ट्र की भाषा की दृष्टि से हिन्दी उर्दू की समस्या नहीं सुलझ सकती। समस्या का यह रूप गौण है। राष्ट्रभाषा के लिए जहाँ तक राजकार्य का संबंध है, अंग्रेज़ों के जाने पर भी हम अंग्रेज़ी चला सकते हैं। इससे वस्तुस्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। परन्तु यह अवांछनीय अवश्य होगा और इससे हमारे आत्म-गौरव को धक्का लगेगा परन्तु जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिये न हमें उसे हिन्दी का साहित्य पढ़ाना पड़ेगा, न उर्दू का साहित्य। वास्तव में हिन्दी-उर्दू की समस्या मूलतः हिन्दी प्रदेश की समस्या है। यह न समझ कर हम बड़ी ग़लती कर रहे हैं। साहित्य-भाषा की दृष्टि में उर्दू का प्रधान क्षेत्र पश्चिमी भारत है, हिन्दी प्रदेश नहीं। जहाँ उर्दू वाले इस बात को न समझ कर हिन्दी को निकालने और उसके ऊपर उर्दू मढ़ने का प्रयत्न करते रहे हैं, वहाँ हिन्दी वाले यह ठेका ले लेते हैं कि वे राष्ट्रभाषा का रूप बना रहे हैं या राष्ट्रभाषा का साहित्य खड़ा कर रहे हैं। दोनों बातें भ्रामक हैं। न राष्ट्रभाषा का स्वरूप ही हिन्दी वाले निश्चित करते हैं, न उसके साहित्य की रचना ही। जब स्वरूप निश्चित हो जायगा तो आवश्यकतानुसार साहित्य भी बन लेगा।

जब राष्ट्र के लिए किसी एक सर्वसुलभ सार्वभौमिक भाषा की बातें आती हैं तो विद्वानों के कई दल हो जाते हैं। कुछ बंगाली विद्वान कहते हैं कि भारतवर्ष में बंगाली सबसे अधिक बोली जाती है, संसार की भाषाओं में संख्या की दृष्टि से उसका पाँचवा स्थान है, अतः वही राष्ट्रभाषा हो। उनका कहना है कि जिस खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा कहा जा रहा है उसे केवल युक्त प्रांत के पश्चिमी कोने में मातृभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है, शेष हिन्दी प्रान्त में

अनेक बोलियां चल रही हैं। हमारे बंगाल में बंगाली का एक ही रूप है। परन्तु डा० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे लोकश्रुत बंगाली और भाषा-मर्मज्ञ हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं। अब बंगाली को राष्ट्रभाषा बनाने की बात दब गई है। विद्वानों का एक दूसरा वर्ग अंग्रेज़ी को ही राष्ट्रभाषा मान रहा है, परन्तु यह वर्ग अत्यंत अल्प-संख्यक है और धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी (राष्ट्रभाषा) के मत की ओर झुक रहा है। अन्य किसी भारतीय प्रान्तीय भाषा के लिए राष्ट्रभाषा का दावा उपस्थित नहीं किया गया है। प्रश्न केवल हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तक रह जाता है। इनमें से कौन एक राष्ट्र-भाषा हो ?

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों खड़ी बोली के तीन रूप हैं ! इनके सर्वनाम, क्रियाएँ और संबंध-बोधक अव्यय एक ही हैं, केवल शब्दकोष और शैली में भिन्नता है। जहाँ तीनों के साहित्य का प्रश्न आता है, वहाँ परिस्थिति यह है कि हिन्दी-उर्दू का अपना-अपना विशाल साहित्य है जो भाषा शब्दकोष और शैली एवं संस्कृति की दृष्टि से भिन्न है। उर्दू फ़ारसी के ढाँचे पर ढली है, उसके भीतर उसी की विदेशी संस्कृति की आत्मा बोलती है। हिन्दी संस्कृत से सहारा लेती है। उसका साहित्य अपभ्रंश, पाली प्राकृत के साहित्यिकों की परंपरा में आता है और उसमें विदेशी संस्कृति और साहित्य की परंपरा का लगभग कुछ भी महत्वपूर्ण मिश्रण नहीं हुआ है। वह संपूर्णतः एतद्देशीय है। हिंदुस्तानी का अपना साहित्य कुछ भी नहीं है। उसके शब्दकोष में हिंदी-उर्दू के सरल शब्द अपना लिये गये हैं, संस्कृत-फ़ारसी शब्दों को ग्रहण नहीं किया गया है। हिंदी-उर्दू की अपनी-अपनी शैलियाँ हैं, परंतु हिन्दुस्तानी की अभी अपनी कोई शैली नहीं है। हिंदी की शैलियाँ हैं—

मृगियों ने चंचल अवलोकन

औ' चकोर ने निशाभिसार
सारस ने मृदु ग्रीवालिंगन
हंसों ने गति, वारि-विहार
पावस-लास प्रमत्त शिखी ने
प्रमदा ने सेवा—शृंगार ,
स्वाति तृषा सीखी चातक ने ,
मधुकर ने मादक गुंजार

"इटली जैसा आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित प्रबल राष्ट्र अभी तक अबीसीनिया को पूर्ण रूप से पददलित नहीं कर सका है। निस्संदेह अबीसीनिया के निवासी असाधारण योद्धा हैं और पिछले दिनों में युद्ध-क्षेत्र में अपने शौर्य और वीर्य का उन्होंने महत्वपूर्ण परिचय दिया है। उन्हें अपनी स्वाधीनता का अभिमान है। और इस सारी अवस्था का श्रेय सम्राट हेलसलासि को है जिन्होंने अपने राष्ट्र के इस महान संकट-काल में अपरिचित साहस और अप्रतिम बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है।"

उर्दू की शैलियाँ इस प्रकार हैं—

अहबाब की यह मिज़ाजदानी, अफ़सोस !
यह कुफ़्र बदोश बदगुमानी, अफ़सोस !
'जोश' और बने उर्दूये अरबाबे—सखुन,
अफ़सोस है ऐ सिरश्ते—फ़ानी, अफ़सोस ! !

"इस बारे में "तन्वीर" की उसूली शाहराह यह होगी कि वह हमारी हाज़िरउलवक्त हिन्दुस्तानी जिंदगी के हालात व हवादिस को अपनी जोला-नगाई फ़िक्रो-नज़र बनायेगा। इन मआमलात से हमारे रसायल व जरायद की बेएतनाई एक अजीब मासूम बेखबरी की अदा रखती है। हम सब कुछ कहते और सुनते हैं लेकिन हमारी गुफ़्तो-

शुनीद से वे ही बातें मुस्तस्ना हो गई हैं जो हमारी ज़ात व इयात हमारे मसालह और मुनाफ़ा से क़रीबतरीन वास्ता रखती हैं।"

सरल हिंदी और सरल उर्दू भी लिखी जाती है परंतु सरलता का विशेष पक्षपात साहित्यिकों में नहीं दिखलाई पड़ता और जहाँ दिखलाई पड़ता है वहाँ केवल कथा-कहानी तक ही सीमित रह जाता है, शैली की विशिष्टता के प्रयत्न और गंभीर भावों को खड़ी बोली में सरल भाषा में प्रकट करने की कठिनाई के कारण अन्य प्रकार के साहित्य में सरल हिंदी और सरल उर्दू के आन्दोलन सफल होते नहीं दिखलाई देते। साहित्य की जितनी शैलियाँ दोनों भाषाओं में चल रही हैं, उनमें इतनी अधिक भिन्नता है कि शायद ही कोई बुद्धिमान उनके आधार पर दोनों भाषाओं को एक कह सके।

हिन्दुस्तानी सरल हिंदी और सरल उर्दू साहित्य से मिलती-जुलती है परंतु उसमें न कोई शैली है न कोई साहित्य। सिद्धान्त के आश्रित बोलने वालों की भाषा, उनके उर्दू-ज्ञान या हिंदी ज्ञान के साथ-साथ फ़ारसी शब्दावली-प्रधान या संस्कृत शब्दावली-प्रधान या कभी-कभी खिचड़ी ही होकर रह जाती है। नीचे हिन्दुस्तानी के कई नमूने हैं—

'हम इस फ़रेब में मुबतला नहीं हैं कि इस सहीअ नाम 'हिंदुस्तानी' के रिवाज दे देने में हमारी जबान की सारी मुश्किलें खतम हो जायँगी। बल्कि हम यह समझते हैं कि आज जब हम अपनी ज़बान की असली पोज़ीशन को दुनिया पर वाज़ेअ करने और इसके हमागीर तरबीस को साबित करने और इसको सारे मुल्क की ज़बान बनाने का तहिय्या कर रहे हैं, तो जरूरत है कि हम सबसे पहिले इसको इसके नाम से रूशनास करायें जिससे इसकी असली हैसियत वाज़ेअ होती है।" (इसमें और उर्दू गद्यशैली में कोई भेद नहीं। हिंदी का एक भी शब्द नहीं आया है, तथापि अंग्रेज़ी के एक शब्द ने स्थान कर

लिया है।

"हिंदुओं के लिए लल्लूजी लाल, बेनीनारायण वग़ैरा को हुक्म मिला कि नस्र की किताबें तैयार करें, उन्हें और भी ज्याद: मुश्किलों का सामना करना पड़ा। अदब की भाषा ब्रज थी लेकिन उसमें गद्य या नस्र नाम के लिए नहीं था, क्या करते! उन्होंने एक रास्ता निकाला कि मीर अम्मन, अफसोस वगैरा: की ज़बानों को अपनाया पर उसमें फ़ारसी और अरबी के लफ्ज़ छोड़ दिये और संस्कृत और हिंदी के रख दिए।" (इसमें हिंदी के केवल दो शब्द हैं 'भाषा' और 'गद्य' जिनमें दूसरे का फ़ारसी के साम्यवादी शब्द 'नस्र' से समझाया है।)

"जितने अरबी-फ़ारसी के लफ़्जों को हिंदी के अच्छे लिखनेवालों ने इस्तेमाल किया है और जितने संस्कृत के शब्दों को अच्छे उर्दू लिखनेवालों ने व्यवहार किया है, उनको हिन्दोस्तानी में ले लेना चाहिए। उनके अलावा आवश्यकतानुसार और भी शब्द लिए जा सकते हैं।" (इसमें एक ही अर्थ के लिए कभी उर्दू शब्द का प्रयोग है, कभी हिंदी या संस्कृत जैसे लफ्ज़, शब्द, इस्तेमाल, व्यवहार। आवश्यकतानुसार का प्रयोग उर्दू वाले नहीं समझेंगे। यह हिन्दुस्तान का हिंदी-उर्दू खिचड़ी रूप है।)

"एक ज़माना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बग़ैर कोई घर खाली न था। चक्की- चूल्हे से छुट्टी मिली तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं। इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मज़बूत और जफ़ाकश होते थे, मगर अब तो अंग्रेज़ी तहज़ीब और मुआशरत ने सिर्फ़ शहरों में ही नहीं देहातों में भी कायापलट दी हैं।" (प्रेमचंद इसको हिन्दुस्तानी का अच्छा नमूना समझते हैं।)

स्पष्ट है कि इन तीनों-चारों नमूनों में सरल हिंदी की उपेक्षा की गई है, उन्हें या तो सरल उर्दू या कठिन उर्दू या "खिचड़ी" कह

सकते हैं, परंतु हिंदी में ये नमूने बहुत दूर पड़ते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि "हिन्दुस्तानी" के समर्थकों का रुझान उर्दू की तरफ़ है जिसमें कहीं-कहीं दो-एक प्रचलित शब्दों को या एकाध संस्कृत के शब्द को बिगाड़ कर बोला जा सकेगा। यह भी साफ है कि जहाँ तक ऊपर के नमूनों का संबंध है यह हिंदी-उर्दू प्रदेश तक ही सीमित हैं। इनमें "हिन्दुस्तानी" को कदाचित् ऐसी भाषा समझ लिया गया है जिसका प्रयोग केवल हिंदी-उर्दू प्रदेश में होगा। हमें बंगाली-हिन्दुस्तानी, मराठी-हिंदुस्तानी, गुजराती-हिन्दुस्तानी—सभी के नमूने मिलने चाहिये जिससे हम व्यापक रूप से हिन्दुस्तानी पर विचार कर सकें। हिन्दुस्तानी की समस्या हिंदी-उर्दू समस्या से भिन्न है, यह सारे देश की समस्या है। इस पर इसी दृष्टिकोण से विचार होना चाहिये। अंग्रेज़ी शिक्षित हिन्दी-उर्दू भाषी व्यक्ति एक तरह से "हिन्दुस्तानी" बोलते हैं या जो उर्दू होती है या ऐसी उर्दू जिसमें अंग्रेज़ी के शब्द खप सकते हैं परंतु संस्कृत फ़ारसी के शब्द नहीं। "साहब लोग" भी एक तरह की हिन्दुस्तानी बोलते थे। यही नहीं, लगभग २-३ शताब्दियों से सिंधी, पंजाबी, मारवाड़ी, पश्तो आदि भाषाओं के साथ मिलाजुला कर "हिन्दुस्तानी" के अनेक रूप व्यवहार में आते हैं।

वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि इस समस्या के ठीक-ठीक रूप को समझें। इसके लिए "हिन्दुस्तानी" के इतिहास को समझना होगा।

अंग्रेज़ों से आने के पहले खड़ी बोली हिंदी का प्रयोग लगभग सारे भारतवर्ष में जन साधारण में हो चला था। मुसलमान विजेताओं की "हिंदी" या "हिंदवी" इसका एक रूप मात्र था। यद्यपि "भाषा" (खड़ी बोली हिंदी) में साहित्य ब्रज और अवधी तक ही सीमित था, विशेषकर साहित्य-रचना "ब्रजभाषा" में होती थी, परंतु "भाषा" का प्रयोग बोल-चाल के रूप में सारे हिन्दी प्रदेश में चलता था और

हिंदी प्रदेश के बाहर भी व्यापार, धर्म-प्रचार आदि की भाषा के रूप में इसका प्रयोग होता था।

अंग्रेज़ जब आये तो उन्होंने राज-काज के लिए फ़ारसी का व्यवहार पाया और जिस शिक्षित वर्ग से उनका सम्पर्क हुआ, वह फ़ारसी शब्दावली-प्रधान खड़ी बोलता था। उसमें साहित्य बहुत कम था। जब तक देश की बाग-डोर अंग्रेज़ों के हाथ में आई, तब तक उर्दू का पर्याप्त साहित्य बन चुका था। अंग्रेज़ों ने "हिन्दोस्तानी" का नाम देकर इसको खूब प्रश्रय दिया। फोर्ट विलियम कालेज प्रमाण है। १८३५ ई० में फ़ारसी के स्थान पर उर्दू संयुक्त प्रांत की अदालती भाषा बन गई। १८९० ई० तक हिन्दी को विशेष स्थान नहीं मिला। उर्दू ही "हिन्दुस्तानी" के नाम पर चलती रही। परंतु इस सारे समय में व्यापक देश भाषा के रूप में व्यापार, धर्म-प्रचार, पारस्परिक-सहयोग के लिए खड़ी हिंदी में मिलती-जुलती भाषा का ही प्रयोग होता था। अंग्रेज़ों की "हिन्दुस्तानी" यही उर्दू थी।

'हिन्दोस्तानी' का आधुनिक आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना का फल है और उसका रूप अंगरेज़ों के हिन्दोस्तानी आन्दोलन से भिन्न है। जब १९१९ ई० में कांग्रेस ने देशव्यापी आन्दोलन का आरंभ किया तो यह पता लग गया कि अंगरेज़ी छोड़कर जनता तक पहुँचने के लिए देशी भाषा का प्रयोग करना पड़ेगा। बाद के आन्दोलन ने इस दिशा को दृढ़ कर दिया। जनता में जैसा हम कह आये हैं, मुसलमानों के राज्य से ही खड़ी हिन्दी चल रही थी। इसी कारण वह उन नेताओं के संपर्क में शीघ्र आ सकी जो हिन्दी या उर्दू का प्रयोग करते हैं, हाँ, वह उर्दू उतनी ही समझती थी जितनी क्रिया, सर्वनाम, हिन्दी शब्द कोश आदि के सहारे समझ सकती थी। जितनी फ़ारसी के शब्दों से वह परिचित थी, वे अधिक नहीं थे। कठिनाई तब उपस्थित हुई जब नेताओं ने अंग्रेज़ी के स्थान पर "हिंदुस्तानी" ही कांग्रेस की भाषा

मानी और उसके रूप को निश्चित करने की चेष्टा की। महात्माजी ने कहा—राष्ट्रभाषा "हिन्दी हिन्दुस्तानी" होगी। इसके कई अर्थ हो सकते थे क्योंकि शब्द भ्रामक था। "हिन्दुस्तानी" क्या हो, "हिन्दी-हिन्दुस्तानी" क्या हो? इन दोनों में भेद कहाँ है? उर्दू के समर्थकों ने हिंदुस्तानी को तो पकड़ लिया और हिन्दी पर हड़ताल फेर दी। उनकी समझ में हिन्दोस्तानी उर्दू का सरल रूप भर है। उसका हिन्दी से कोई सम्बन्ध नहीं। हिन्दी वालों ने समझा, हिन्दी का ही सरल रूप हिन्दुस्तानी है। राजकाज में जिस हिन्दुस्तानी की बात चलती रहती है, और उर्दू के नाम से जिनका प्रयोग हिन्दी पर लादा गया है, उससे यह भिन्न है। एक बवंडर ही उठ खड़ा हुआ और गांधीजी को "हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी" नाम देना पड़ा। महात्माजी ने कहा कि "हिन्दी या हिन्दुस्तानी" में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों, देशज शब्दों और प्रांतिक शब्दों के साथ-साथ अरबी-फ़ारसी, अंगरेज़ी भाषाओं से ले लिए गए शब्दों का प्रयोग साधु है।" परिस्थिति उस समय और भी विषम हो गई जब हिन्दी प्रचार के मोह में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने "हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी" का समर्थन किया, अर्थात् हिन्दी का वह रूप जो हिन्दुस्तान की भाषा का रूप है जिसे हिन्दुस्तान के रहने वाले हिन्दुस्तानी कहें। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में इसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हिन्दी भाषा की दो लिपियाँ स्वीकार की गईं।

यह है हिन्दुस्तानी आन्दोलन का इतिहास। स्पष्ट है कि अंगरेज़ भ्रम में थे और अब कांग्रेस के नेता, अधिकारी, उर्दू के समर्थक और "हिन्दोस्तानी" के यशगानकर्त्ता सभी भ्रम में हैं। कठिनाई की जड़ यह है कि हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी का रूप बहुत कुछ मिलता-जुलता रहेगा और हिन्दी-उर्दू के समर्थक हिन्दुस्तानी को उर्दू या हिन्दी के ही ढाँचे में ढालना चाहते हैं।

राष्ट्रभाषा का जो रूप होगा, वह उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के ही

अधिक निकट होगा, यह निश्चित है। कारण यह है कि सभी प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रयोगाभ्यास के कारण इस बोल-चाल की भाषा में संस्कृत शब्दावली बाहुल्य होगी, परन्तु प्रान्तीय भाषाओं के शब्द और प्रयोग भी आ जायंगे। इसे "हिन्दी राष्ट्रभाषा", "राष्ट्रभाषा हिन्दी" या "हिन्दोस्तानी" जो कहो, इसका प्रयोग समय निश्चित करेगा, हिन्दी-उर्दू प्रदेश नहीं। दूसरी बात यह है कि इस पर आग्रह नहीं हो सकता कि वह देवनागरी और उर्दू दोनों ही लिपियों में लिखी जाय। जब तक बंगला, सिंधी, गुरुमुखी, तामिल, तेलगू आदि लिपियों के स्थान पर देवनागरी लिपि का प्रयोग नहीं होता, निकट भविष्य में ऐसा होता दीखता भी नहीं, तब तक इसे सभी लिपियों में लिखा जायगा। हाँ, यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष में देवनागरी और फ़ारसी लिपियों का ही प्रचार हो जाये और शेष लिपियाँ नष्ट हो जायें तो यह आग्रह ठीक होगा। वास्तव में "हिन्दुस्तानी" की समस्या "हिन्दी की समस्या" नहीं है। न वह केवल अधिकारियों या नेताओं की समस्या है, वह सबकी मिली-जुली समस्या है और अभी से किसी एक निश्चय पर आ जाना असंभव है।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न [२]

जैसे-जैसे राष्ट्रीयता का विकास होता गया है और जीवन के सभी क्षेत्रों में उसकी स्थापना होती गई है, इस विस्तृत महाप्रदेश के लिए एक राष्ट्रभाषा की बात हम बराबर सोचते रहे हैं। प्राचीन काल में संस्कृत राष्ट्रभाषा थी। कम से कम विद्वानों और पंडितों के सीमित वर्ग इसी भाषा में उत्तर और दक्षिण का सांस्कृतिक आदान-प्रदान चलता था। मुसलमानों के आने से पहले मध्यप्रदेश की प्राकृत (शौरसेनी या महाराष्ट्री) सामान्य जनता में दैनिक व्यवहार के लिये प्रयोग में आती थी। यह तो स्पष्ट ही है कि राजनैतिक और सांस्कृतिक समन्वय के लिए

ही नहीं, प्रांतों-प्रान्तों के बीच में दैनिक व्यापारों के लिए सामान्य भाषा (राष्ट्रभाषा) की आवश्यकता है। आज तक परिस्थिति दूसरी थी। राजकीय और शासन व्यवस्थाओं के लिए हम इस क्षेत्र में अंग्रेज़ी का प्रयोग करते थे, परंतु दैनिक जीवन के लिए 'हिन्दुस्तानी' (हिंदी या उर्दू) को काम में लाते थे। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए कोई अंतर्प्रान्तीय भाषा अब तक नहीं रही।

भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं। उनके अपने-अपने क्षेत्र हैं। जब हम भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रभाषा की अनिवार्यता की बात सोचते हैं, हम यह नहीं चाहते कि स्थानीय बोलियों या प्रांतीय भाषाओं को उनके स्थान से च्युत कर दें। बोलियों में किसी भी साहित्य की रचना नहीं हुई है। उनके अपने छोटे-छोटे क्षेत्र हैं जिनमें उनका व्यवहार सीमित है। लगभग एक दरजन से अधिक प्रांतीय भाषाएं हैं और उनमें साहित्य भी अच्छा है। यह प्रांतीय भाषाएँ कहीं न कहीं, किसी प्रदेश में विभाषा (बोली) के रूप में भी बोली जाती हैं। राष्ट्रभाषा का क्षेत्र तो अंतर्प्रान्तीय आदान-प्रदान और केन्द्रीय-शासन से संबंधित है। उसके साथ प्रांतीय भाषाएँ अपने-अपने प्रांत में स्वायत्त शासन को प्राप्त होंगी और बराबर चलती रहेंगी। परंतु यह बहुत आवश्यक है कि सामान्य भाषा (राष्ट्रभाषा) का भी उतना ही विकास हो जितना किसी भी प्रांतीय भाषा का संभव है जिससे वह शासन संबंधी सारे क्षेत्रों में पूर्णतया काम में आ सके। यह संभव है कि कालांतर में उसमें रसपरिपाक संभव हो सके और राष्ट्र के विचार और उसकी चिंताधाराएँ उसमें प्रकट की जा सकें। तब उसमें उसका अपना साहित्य प्रतिष्ठित हो सकेगा। परंतु सबसे पहले यह आवश्यकता इसी बात की नहीं है कि उसमें कोई साहित्य खड़ा हो सके। यह काफ़ी है कि यह राष्ट्रभाषा शासन के क्षेत्र में अँग्रेज़ी की जगह ले ले और अन्य दूसरे क्षेत्रों में इसका व्यवहार अंतर्प्रान्तीय होने लगे।

अँग्रेज़ी को तो जानना ही चाहिये। परंतु कौन भाषा अँग्रेज़ी की जगह ले? कोई प्रांतीय भाषा या कोई गठी हुई गठी भाषा जो कई प्रांतों में थोड़ी-बहुत समझी जा सके। कई भाषाओं के दावे भिन्न भिन्न प्रांतों से पेश किये गये हैं—परंतु अब कोई ऐसा दावा नहीं करता। केवल दो भाषाएँ क्षेत्र में हैं हिंदी और उर्दू। जहाँ तक क्रियापदों और कारकों के रूपों से संबंध है दोनों में कोई अंतर नहीं, परंतु उनके सांस्कृतिक तल में गहरी भिन्नता है। संस्कृति की दृष्टि से उर्दू ईरान की भाषा (फ़ारसी) से मिली-जुली है और उसपर फ़ारसी और अरबी का बड़ा ऋण है। उधर हिंदी की संस्कृति संस्कृत की मुखापेक्षी है। उसका शब्द-कोष और अनेक विषयों में उसकी प्रेरणा इसी संस्कृत भाषा से मिलती है। हिंदी और उर्दू के सरलतम तत्त्वों को लेकर ही हिन्दुस्तानी गढ़ी गई है। अब तक हिंदी और उर्दू दोनों के समर्थक राष्ट्र-भाषा (मुल्की ज़बान) के लिए अपने-अपने दावे पेश करते रहे हैं। अप्रैल ११, १९४५ के 'लीडर' पत्र में पंडित बालकृष्ण शर्मा ने लिखा था— "(Hindi) alone deserves to be and is the Lingua Franca of India. Any attempt to substitute Hindustani for Hindi, as the Lingua Indica is bound to meet with just and keen opposition." (हिंदी में ही राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता है, राष्ट्रभाषा के लिये हिन्दुस्तानी के प्रयोग से बहुत तीव्र विरोध बढ़ना आवश्यक बात है। उनका कहना है कि हिंदी यों सारी प्रांतीय भाषाओं के बहुत से समान, मिले-जुले, शब्द और प्रयोग हैं। इस रूप में हमें उसे स्वीकार कर शेष प्रश्नों को अगली पीढ़ी के लिए छोड़ देना चाहिये। वह कहते हैं-"Perhaps the Muslim friends in Northern India are not in a mood today to realise the inevitability of the logic of the

situation. They are not prepared to concede that India' scommon language must, of necessity, owe her alligiance to Sanskrit. They cannot see the very obvious fact that attempt to evolve a common language looking to Arabic or Persian for inspiration is bound to come to grief. It is our firm conviction that it is dangerous to try to construct a common language. Let India be a bilingual nation for the purpose of a national language. Let Hindi and Urdu both find recognition as our national languages. If nations in the world can have two national languages, surely we too can afford to do so.....If fusion comes in the course of natural evolution, well and good. But let there be no attempt at forging common language."

हिंदी प्रदेश में हिंदी-उर्दू की समस्या पर तर्क-वितर्क तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से चल रहे थे। पहली बार अखिल भारतीय प्रयत्न फोर्ट विलियम कालेज के द्वारा हुआ। उस समय सरकार की यह चेष्टा थी कि शासन के लिये एक मध्य मार्ग ग्रहण करे। परंतु झगड़े के बीज वास्तव में १६२१ ई० में बोए गये जब महात्मा गांधी ने हिंदी के लिए काम करना शुरू किया। उन्होंने हिंदी साहित्य सम्मेलन को अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। मुसलमानों ने उनका विरोध किया और उन्हें क्रमशः अपने क्षेत्र का विस्तार करना पड़ा। हिंदी से हुआ 'हिंदी उर्फ़ (अर्थात) हिन्दुस्तानी' और फिर 'हिंदी-हिन्दुस्तानी'। हिन्दु-

स्तानी का यह आंदोलन १९४२ ई० में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जब उन्होंने 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' की प्रतिष्ठा की और हिन्दुस्तानी प्रचार के लिये देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों की व्यवस्था की। इस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकारियों और महात्मा जी में मतभेद होना आवश्यक था। फलतः गांधीजी ने हिंदी साहित्य सम्मेलन से अपना संबंध विच्छेद कर लिया और सरल हिन्दुस्तानी के प्रचार को अपना ध्येय बनाया।

कठिनाई मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है। मध्य प्रदेश की भाषा सदैव भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा रही है। इसी मध्य प्रदेश की भाषा ने विशेष परिस्थितियों के कारण दो शैलियाँ ग्रहण कर लीं। दिल्ली और मेरठ की खड़ी बोली का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। शौरसेनी अपभ्रंश भारत राष्ट्र के हृदय की भाषा समझी जाती थी। इस नाते दूर-दूर तक इसका अध्ययन-अध्यापन चलता था। जब दिल्ली मुसलमानी राज्य का केन्द्र हो गया तो अपभ्रंश भाषा में सैकड़ों अरबी-फारसी शब्दों का समावेश हो गया। दूर-दूर के नगरों में मुग़ल सेना शिविर स्थापित हुए और अपभ्रंश (भाषा) के अरबी-फ़ारसी मिश्रित रूप को 'उर्दू' (शिविर की भाषा) नाम मिला। इन फ़ौजी छावनियों के देश व्यापी प्रचार के कारण बाज़ारों, पैठों और हिन्दू-मुसलमानों के दैनिक जीवन में 'उर्दू' का प्रचार बड़ी तीव्रता से बढ़ा। जिस प्रकार मुसलमानी गुजराती और मुसलमानी बंगाली का जन्म हुआ, उसी प्रकार हिंदी प्रदेश में मुसलमानी हिंदी का जन्म हुआ, जिसका नाम 'उर्दू' पड़ा (जिसे हिन्दी भी कहा गया) और सत्रहवीं शताब्दी से उसने केवल मुसलमानों के लिए एक विशेष प्रकार के साहित्य का निर्माण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उर्दू का साहित्य खड़ी बोली हिंदी के साहित्य से कहीं अधिक विकसित था। इसका कारण यह था कि हिन्दी खड़ी बोली में साहित्य की रचना

अट्ठारहवीं शताब्दी से आरम्भ होती है—इससे पहले साहित्य की भाषायें ब्रजभाषा और अवधी थीं।

आज परिस्थिति यह है कि हिन्दी और उर्दू का अपना-अपना अलग और धनी साहित्य है। अभी भी ये दोनों इतनी विभिन्न नहीं हुई हैं कि कुछ दिनों के परिश्रम के बाद एक भाषा का साहित्य दूसरी भाषा में साहित्य की रचना न कर सके। प्रेमचंद पहले उर्दू के लेखक थे, फिर हिन्दी में आये और उसमें शीर्षस्थान प्राप्त कर सके। परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों भाषायें एक हैं। दोनों शैलियाँ बहुत कुछ भिन्न हैं और पिछले कुछ दिनों से बराबर वैभिन्न्य की ओर बढ़ रही हैं। सरकार और कांग्रेस जनता तक पहुँचने के लिये और शासन-सुविधा के लिए 'हिन्दुस्तानी' का निर्माण चाहती हैं, परन्तु हिन्दी वाले और उर्दू वाले इन प्रयत्नों का बराबर विरोध करते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि भाषा के क्षेत्र में बँटवारा या समझौता असम्भव है। जैसी परिस्थिति आज है, हिन्दी और उर्दू दोनों बहुत विकसित भाषाएँ हैं जिनका अपना-अपना शब्दकोष है और अपना-अपना साहित्य। दोनों का क्षेत्र एक ही प्रदेश है जिसे 'हिन्दी प्रदेश' कहा जाता है। इस क्षेत्र की राजभाषा क्या हो, यह राष्ट्रभाषा के प्रश्न के लिए भी महत्वपूर्ण होगा। सारे भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा का निर्णय आवश्यक बात है। केवल हिन्दी प्रान्तों के ही राष्ट्रभाषा, राजभाषा या सामान्य भाषा नहीं चाहिये, सारे देश के लिए राष्ट्रभाषा, राजभाषा या सामान्य भाषा चाहिये। केन्द्रीय भारत की भाषा 'खड़ी बोली', राष्ट्रभाषा की समस्या को हल कर देती परन्तु खड़ी बोली की दो शैलियाँ (हिन्दी, उर्दू) होने के कारण समस्या उलझ गई है। हिन्दुस्तानी का रूप क्या हो, दोनों भाषाओं का सामान रूप हो, या मिला-जुला रूप हो, या हिन्दी की मात्रा

अलग हो—जो हो, यह निश्चित है कि इस तरह का प्रयत्न बुरा नहीं है और इससे दो जातियों में 'राष्ट्र-मत' उत्पन्न करने में सहायता मिलती है। यदि हम 'सरल हिन्दी' और 'सरल उर्दू' को लें और संस्कृत, अरबी, फ़ारसी के शब्दों का बहिष्कार कर दें और इन भाषाओं के शब्दों के स्थान पर अन्य प्रांतीय भाषाओं और हिन्दी की बोलियों के शब्द ग्रहण करें तो समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है। हो सकता है, इस भाषा में साहित्य का निर्माण करने में अभी हमें सफलता नहीं मिले, उसमें बहुत अधिक समय लगे, परन्तु हम राष्ट्रभाषा चाहते हैं, सारे राष्ट्र के लिए किसी एक भाषा में साहित्य की रचना हो, यह हमारा उद्देश्य नहीं है। हमें तो अभी विभिन्न प्रांतों और केन्द्र की धारा-सभाओं के लिए भाषा चाहिये। यह भाषा अंतर्प्रान्तीय व्यवहार, जन-सम्मेलन और साधारण आदान-प्रदान की भाषा भी हो। यह तो होना ही है, फिर शेष स्वयं विकसित हो लेगा। सच तो यह है कि झगड़े की जड़ लिपि और शब्द-कोष है। विभिन्नता की जड़ हैं शैली, विदेशी मूर्तिमत्ता और वाक्यविन्यास। हिन्दुओं और मुसलमानों में धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों की विभिन्नता है। यह संभव नहीं है कि मुसलमान अपने पिछले इतिहास को गंगा में डुबा दें। इस्लामी विशेष दृष्टिकोण के कारण ही मुसलमानों के लिए हिन्दुओं की भाषाशैली (हिंदी) से अलग एक शैली (उर्दू) गढ़ ली गई। मुसलमानी शैली (उर्दू) में इस्लामी धर्म और साहित्य की बहुत सी परम्पराएँ सुरक्षित हैं। परंतु यह अरबी और फ़ारसी से लदी हुई हिंदी जन-भाषा का स्थान नहीं ले सकती। लगभग सारी प्रांतीय भाषाओं का संबंध संस्कृत से है और इसी कारण संस्कृत-प्रधान हिंदी प्रांतीय भाषाओं से बहुत निकट पड़ती है। चाहे जो भी अंत-र्प्रान्तीय भाषा हो—चाहे उसे 'हिन्दुस्तानी' कह लो या कुछ और—कालांतर में वह संस्कृत की ओर झुकेगी, परंतु यह आवश्यक नहीं है

कि आज की संस्कृतप्रधान हिंदी उसी रूप में जनभाषा (या राष्ट्र-भाषा) के लिए स्वीकृत हो। उसमें पाँच-छः करोड़ मुसलमानों की भाषा के तत्व आगे-पीछे आये बिना नहीं रहेंगे। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय भाषा संबंधी इस परिस्थिति को ठीक ही समझा था। जब हम सारे राष्ट्र और राष्ट्र के सम्बन्धों और सब जातियों को लेकर जनसंस्कृति गढ़ने चले हैं, तो हमारी सहानुभूति और हमारे दृष्टिकोण को व्यापक होना चाहिये। यदि 'राष्ट्र' के रूप में भारत को जीवित रहना है, तो उसे राष्ट्रीय क्षेत्र में मिली-जुली भाषा की परंपरा को आगे बढ़ाना होगा।

परंतु जान पड़ता है विशेष परिस्थितियों के कारण राष्ट्रभाषा के प्रश्न का फैसला उस तरह नहीं होने जारहा है जिस तरह महात्मा गांधी या पंडित नेहरू चाहते हैं। १५ अगस्त १९४७ को भारत की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी गई है और नई शासन-योजना के अनुसार प्रांत अपनी अपनी नीति गढ़ने के लिए स्वतंत्र हैं। पाकिस्तान बन जाने के बाद सारे भारतीय संघ में मुसलमानों के विरुद्ध जो लहर उठी है, उसने प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ भी दृढ़ किये हैं। फलतः, हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों (यू० पी०, बिहार, मध्यप्रांत) को हिंदी राजभाषा बनाने की घोषणा करनी पड़ी है। हिंदी साहित्य सम्मेलन के ३५सवें अधिवेशन के सभापति राहुल सांकृत्यायन के भाषण से हम भाषा-सम्बन्धी परिस्थिति ठीक रूप में समझ सकते हैं :—

१—आज फिर भारत एक संघ में बद्ध हुआ है। हमारे भारत संघ की कोई एक भाषा भी होनी आवश्यक है। संघ-भाषा के बारे में कुछ थोड़े से लोग अपने व्यक्तिगत विचारों और कठिनाइयों को लेकर बाधा डालना चाहते हैं। हम पूछेंगे—संघ के काम के लिए भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं को लेना संभव नहीं, फिर किसी एक भाषा को हमें स्वीकार करना होगा।

२—कोई भी अविकृत मस्तिष्क आदमी आज अंग्रेज़ी को राष्ट्र-भाषा बनाने की कोशिश नहीं करेगा।

३—सवाल है—हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं और दोनों लिपियों को भी क्यों न सारे संघ की राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि माना जाय। पूछना है—अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा से ज्यादा लादना व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है? संघ की राष्ट्रभाषा सिर्फ एक होनी चाहिये। दो-दो चार-चार भाषाओं को संघ की भाषा मानना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। × × × × एक भाषा रखते वक्त हमें हिंदी को ही लेना होगा। हिंदी-भाषा भाषी बहुत भारी प्रदेश तक फैले हुए हैं, इतना ही नहीं बल्कि आसामी, बँगला, उड़िया, मराठी, पंजाबी ऐसी भाषायें हैं, जो हिन्दी जानने वालों के लिये समझने में बहुत आसान हो जाती हैं, क्योंकि उनका एक दूसरे से बहुत निकट का सम्बन्ध है।

४—उर्दू लिपि जो कि वस्तुतः अरबी लिपि है इतनी अपूर्ण है कि उसे खुद बहुत से इस्लामी देशों से देश निकाला दिया जा चुका है। उसको लादने का ख्याल तो हमारे दिल में आना ही नहीं चाहिये।

५—हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के लिये जब कहा जाता है, तो कहीं कहीं से आवाज निकलती है—हिन्दी वाले सारे भारत पर हिन्दी का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं? यह उनका झूठा प्रचार है और वह हिन्दी-भिन्न-भाषा भाषियों के मन में यह भय पैदा करना चाहते हैं कि हिन्दी के संघ-भाषा बनने पर उनकी भाषा का साहित्य और अस्तित्व ही मिट जायेगा। यह विचार सर्वथा निर्मूल है। अपने क्षेत्र में वहाँ की भाषा ही सर्वेसर्वा होगी। बंगाल में प्रारम्भिक स्कूलों से यूनिवर्सिटी तक, गाँव की पंचायतों से प्रान्त की पार्लियामेंट और हाईकोर्ट तक सभी जगह बँगला का अक्षुण्ण राज रहेगा। इसी तरह

उड़ीसा, आंध्र, तमिलनाड, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और आसाम में भी वहाँ की भाषाओं का साहित्यिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में निर्बाध राज्य रहेगा। हिन्दी का काम तो वहाँ ही पड़ेगा जहां एक प्रांत का दूसरे प्रान्त से संबन्ध होगा। इसको कौन नहीं स्वीकार करेगा कि बंगाली, उड़िया, मराठे, गुजराती, तिलंगे और कर्नाटकी जब एक जगह अधिकाधिक मिलेंगे तो उनके आपसी व्यवहार के लिए कोई एक भाषा होनी चाहिये।

इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी भाषा भारत में जब-जब राजनीतिक एकता या अनेकता भी रही, तब तक मानी गई। अशोक के शिलालेखों की भाषा मैसूर, गिरनार, जौगढ़ (उड़ीसा), और कलसी (देहरादून) इसका प्रथम प्रमाण है। फिर संस्कृत ने माध्यम का स्थान लिया, यद्यपि इसमें संदेह है कि वह कचहरियों और दरबारों की बहुप्रचलित भाषा थी। अपभ्रंश काल (७-१३ सदी) में हम आसाम से मुल्तान, गुजरात महाराष्ट्र से उड़ीसा तक अपभ्रंश भाषा में कवियों को कविता करते पाते हैं। उनमें कितने ही दरबारी कवि हैं। इस अपभ्रंश में यद्यपि इन सारे प्रदेशों की भाषा का बीच मौजूद है, परन्तु उनकी शिष्ट भाषा अवध और ब्रज के बीच की भूमि पांचाल की भाषा थी, जिसका मुख्य नगर कन्नौज मौखरियों के समय से गहड़वारों के समय (६-१२ वीं सदी) तक उत्तरी भारत का सबसे बड़ा राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा। इस तरह अपभ्रंश उस समय सारे भारत में वही काम कर रही थी, जो गैर-सरकारी तौर से आज तक और सरकारी तौर से आगे हिन्दी को सारे भारत में करना है।

६—राहुल जी का कहना है कि मुसलमानी शासनकाल में हमारी जितनी भी अंतर्प्रान्तीय साधु-संस्थायें रहीं और जो आज तक चली आ रही हैं, वह हिन्दी का प्रयोग करती थीं। "× × × सदियों से जब भारत में एकाधिपत्य और निरंकुश शासन का ही चारों तरफ बोलबाला

था, साधुओं के यही अखाड़े थे, जिन्होंने जनतन्त्रता का अच्छा आदर्श सामने रखा, तथा प्रान्तीयता और अखिल भारतीयता की समस्या को हल किया, बहुत हद तक उन्होंने जातिभेद बन्धन को भी शिथिल किया था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजकीय परिस्थितियां हिंदी, उर्दू, हिदुस्तानी की समस्या का अन्त कर रही हैं और शीघ्र ही हिन्दी राष्ट्रभाषा बन जायगी। पाकिस्तान के स्थापन ने जहाँ एक राष्ट्र की समस्या को कई दशाब्दियों तक उलझा दिया, वहाँ उसने हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी की समस्या का फ़ैसला कर दिया। अभी विधान परिषद को राष्ट्रभाषा घोषित करना रह गया है, परन्तु हवा किस ओर बह रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

४

खड़ी बोली गद्य की भाषाशैलियों का विकास

साहित्य के दो सर्वमान्य रूप गद्य और पद्य हैं और इन्हीं के अंतर्गत साहित्य के सारे प्रकार-भेद आ जाते हैं। साहित्य के विकास क्रम में पद्य का स्थान पहले आता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में साहित्य को सुरक्षित रखने की बड़ी भारी समस्या थी और गीतात्मक एवं छंदबद्ध होने के कारण पद्य को कंठगत करना अपेक्षाकृत सरल था। छापे की कला के विकास से पहले का संसार का लगभग सारा साहित्य पद्य-रूप में ही मिलता है। आधुनिक युग के साहित्य को कंठगत-रूप में सुरक्षित रखने की आवश्यकता नहीं रही और मनुष्य के जीवन में अनेक ऐसे तत्त्वों का प्रवेश हुआ जो गद्य द्वारा ही सुगमता से प्रकाशित हो सकते थे। इसीसे गद्य के अनेक भेदों का विकास हुआ। निबंध, नाटक, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, एकांकी इत्यादि गद्य के अनेक रूप आज के साहित्य में प्रचलित हैं।

१८००ई० से पहले का अधिकांश हिंदी साहित्य भी पद्य में है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे साहित्य में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। इनमें सबसे बड़ा परिवर्तन खड़ी बोली गद्य का व्यापक प्रयोग और उसके अनेक रूपों का विकास था। सच कहा जाये तो हमारे नवयुग का साहित्य, गद्य का साहित्य है और शताब्दियों तक पद्य-द्वारा साहित्य का जो नेतृत्व होता रहा है, वह समाप्त हो गया है। जीवन की जितनी विविधताओं, जितनी विभिन्न अनुभूतियों और जितने विरोधी विचारों को आज गद्य प्रकट कर रहा है, उतना पद्य के लिए कभी संभव नहीं रहा। आज का युग गद्य का युग है।

१४ वीं शताब्दी के पूर्व का हिंदी गद्य लगभग अप्राप्य है। इस समय साहित्य की सामान्य भाषा डिंगल (साहित्यिक राजस्थानी) थी। कुछ शिलालेख और सनदें इस भाषा में मिलती हैं, परंतु विद्वानों को इनकी प्रामाणिकता में संदेह है। हिंदी गद्य के सबसे प्राचीन लेखक गोरखनाथ कहे जाते हैं और लगभग १३५० ई० के कुछ गोरखपंथी गद्य ग्रंथ भी प्राप्त हैं जिनकी भाषा डिंगल-मिश्रित ब्रजभाषा है।

१४ वीं शताब्दी के बाद हिंदी गद्य ब्रजभाषा, डिंगल और हिंदवी (खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप) में लिखा गया। राजस्थानी गद्य में इस काल की बहुत-सी रचनाएँ हुईं जो अधिकांश 'ख्यातों' और 'बातों' के रूप में हैं। ये 'ख्यातें' और 'बातें' ऐतिहासिक गाथाएँ हैं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ कल्पनात्मक कथा-सूत्र भी चलता रहता है। ख्यातों की परंपरा कई शताब्दियों तक चली आई है और इनमें हमें डिंगल-गद्य का सबसे प्रौढ़ रूप मिलता है। ब्रजभाषा गद्य को सबसे अधिक प्रोत्साहन १६ वीं शताब्दी के कृष्ण-भक्ति आन्दोलन से मिला। जहाँ सूरदास ने लोकगीतों का सहारा लेकर साहित्यिक गीतों की सृष्टि की, वहाँ श्री बल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने बोल-चाल की भाषा लेकर प्रारंभिक ब्रजभाषा गद्य का निर्माण किया। उनका ग्रंथ 'शृंगाररस मंडन' ब्रजभाषा गद्य का सबसे पहला साहित्यिक उदाहरण उपस्थित करता है। उनके पुत्र गोकुलनाथ ने हिंदी गद्य की इस परंपरा को अक्षुण्ण रखा और उसका प्रयोग प्रवचनों और भक्तों की महिमा-गाथा के लिए किया। फलस्वरूप हमें दो ग्रन्थ मिलते हैं—चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता। इन ग्रन्थों में ब्रजभाषा गद्य अपने सर्वप्रौढ़ रूप में सामने आया है। इन दोनों ग्रन्थों की सामग्री कदाचित गोकुलनाथ के प्रवचनों से इकट्ठी की गई है। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में टीकाओं और अनुवादों के लिए ब्रजभाषा का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ। इनमें शैली की

स्वतंत्रता के लिए अधिक स्थान नहीं था; फलतः इनका गद्य बिल्कुल अव्यवस्थित है और उसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है। 'हिंदवी' में गद्य का प्रयोग मुख्यतः मुसलमान 'औलियाओं' (सूफ़ी संतों) द्वारा हुआ। सैयद मुहम्मद गैसूदराज़ का बंदानवाज़ का मेराजुल आशकीन (१३९८) प्राचीन खड़ी बोली गद्य का पहला ग्रन्थ है। शाह मीरानजी बीजापुरी (मृ० १४९६) और शाह बुरहान खानम (मृ० १५८२) का हिंदवी गद्य भी हमें प्राप्त है। हिन्दू लेखकों ने खड़ी बोली गद्य का विशेष प्रयोग नहीं किया। अकबर के दरबारी कवि गंग भट्ट की 'चंद छंद वर्णन की महिमा' किसी हिंदू द्वारा लिखा पहला हिन्दी गद्यग्रन्थ है। 'मंडोवर का वर्णन' और 'चकत्ता की पातशाही की परंपरा' नाम के दो अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनके लेखकों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। १७६० ई० के लगभग की खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी की एक रचना 'कुतबदी साहिबज़ादा की बात है' है।

हिन्दी के आधुनिक गद्य की भाषा खड़ी बोली है। मूल रूप में वह कुरु-पांचाल प्रदेश (दिल्ली-मेरठ) की जनता की बोली भी है। मुसलमान शक्ति का केन्द्र यही प्रदेश रहा और सामान्य आदान-प्रदान के लिए इसी प्रदेश की बोली के तुर्की-अरबी-फ़ारसी मिश्रित रूप (हिंदवी) का प्रयोग होता रहा। धर्म-प्रचार के लिए सूफ़ीसंतों और पीरों ने इसी भाषा का प्रयोग किया और उनका साहित्य (११वीं से १६वीं शताब्दी तक) इसी भाषा में मिलता है। मुसलमान शासक जहाँ-जहाँ गये, इस बोली को साथ लेते गये। १८वीं शताब्दी में जब अँग्रेज़ों ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तो उत्तरी भारत में व्यापक रूप में अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ी बोली का प्रयोग हो रहा था, विशेषकर छावनियों और बाज़ारों में। इस समय पश्चिम की बड़ी-बड़ी इस्लामी मंडियाँ और बड़े-बड़े नगर उजड़ चुके थे और हिन्दू व्यवसायी पूर्वी प्रदेश में फैल गये थे। ये अपने साथ पश्चिमी खड़ी बोली भी लाये और वही

बोली वाणिज्य-व्यवसाय में जन-साधारण की व्यापक भाषा का रूप ग्रहण करने लगी।

आधुनिक खड़ी बोली गद्य के इतिहास में पहले चार नाम इंशा, लल्लूलाल, सदल मिश्र और सदासुखलाल के हैं। ये ही पहले चार आचार्य हैं। इंशाअल्ला खाँ और मुंशी सदासुखलाल फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (१८०० ई०) से पहले अपनी रचनायें उपस्थित कर चुके थे। सदासुखलाल की रचना 'सुखसागर' धार्मिक थी। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' जन समाज के लिए ठेठ हिन्दी में लिखी गई कहानी है। इंशाअल्ला खाँ का गद्य 'बाज़ीगरी' की दृष्टि से लिखा गया था। लेखक का दावा था कि "कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले। तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच न हो। 'हिंदीपन' भी न निकले और भाषापन भी न हो। जितने भले लोग आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों डोल रहे और छाँह किसी की न दे।" स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा व्यवहार की भाषा नहीं हो सकती थी। सदासुखलाल और सदल मिश्र ने अवश्य व्यवहार योग्य चलती-फिरती भाषा का नमूना तैयार किया परन्तु पंडिताऊपन और प्रांतीय भाषा के सम्मिश्रण से वे भी बच नहीं सके। सुखसागर की खड़ी बोली उस ढंग की हैं जिस ढंग की संस्कृत के पंडित काशी, प्रयाग आदि पूरब के नगरों में बोलते हैं। यद्यपि मुंशी जी खास दिल्ली के रहने वाले थे और उर्दू के अच्छे कवि और लेखक थे, परन्तु हिन्दी गद्य के लिए उन्होंने पंडितों की ही बोली ग्रहण की। "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाये" "उसे कुछ होयगा" "बहकाने वाले बहुत हैं" इस प्रकार के प्रयोग उन्होंने बहुत किये हैं। सदल मिश्र की भाषा में पूरबीपन बहुत अधिक है। 'जो' के स्थान पर 'जौन' 'माँ' के स्थान पर 'महतारी' यहाँ के स्थान पर 'इहाँ' 'देखूँगा' के

स्थान पर 'देखोजी' ऐसे शब्द शायद मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा या काव्यभाषा के ऐसे-ऐसे प्रयोग जैसे 'फूलन के' 'चहुँदिशि' 'सुनि' भी लगे रह गये हैं। लल्लूलाल की भाषा में पंडिताऊपन, कथावाचक और ब्रजभाषा की ऐसी खिचड़ी थी कि वह एकदम अव्यवहारिक बन गई थी। लल्लूलाल और सदल मिश्र फोर्ट विलियम कालेज से संबंधित थे जिसके अधिकारियों का संबंध कंपनी के शासन से था। वह इंगलैंड से आये तरुण शासकों को ऐसी भाषा का अध्ययन कराना चाहते थे जिसका प्रयोग वे उत्तरी भारत के राजकाज में संपर्क में आने वाली मध्यवर्तीय जनता में कर सकें। शीघ्र ही उन्हें पता लग गया कि लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा इस जनता की समझ में नहीं आती। उसमें अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ी (उर्दू) प्रचलित थी। अतः १८१८ ई० में फोर्ट विलियम कालेज बन्द कर दिया गया और उर्दू सिखलाने का प्रबन्ध इङ्गलैंड में ही हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक खड़ी बोली गद्य की नींव उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में रखी गई। परन्तु इन पहले चार आचार्यों के बाद लगभग ५० वर्षों तक कोई बड़ी शक्ति हिंदी गद्य-क्षेत्र में नहीं आई। फिर भी इन पचास वर्षों में हिन्दी गद्य का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। इन वर्षों में हिन्दी गद्य मुख्यतः ईसाई पादरियों के प्रचार-ग्रंथों, स्कूल सोसाइटियों और समाचार-पत्रों के रूप में हमारे सामने आया। आगरा, श्रीरामपुर और कलकत्ता ईसाई-पादरियों और शिक्षा-संस्थाओं के केन्द्र थे और विशेष महत्वपूर्ण काम यहीं हुआ। पादरियों ने गद्य को केवल धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया परन्तु ट्रेक्ट बुक सोसाइटियों ने अपना काम धर्म प्रचार तक ही सीमित नहीं रखा वरन ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को भी जनता तक पहुँचाया। १८२६ ई० में हिन्दी का पहला समाचार-पत्र "उदंत मार्तंड" कलकत्ते में प्रकाशित

हुआ। इसमें अवधी और ब्रजभाषा की छाप रहती है। गद्य का जो रूप इसमें मिलता है वह अत्यन्त प्रारंभिक है। पहले चार आचार्यों की रचनाओं के बाद हिंदी का पहला प्रौढ़ रूप 'बुद्धि प्रकाश' (१८५३) में मिलता है। तीन वर्ष पहले बनारस से 'सुधाकर' पत्र भी निकलने लगा था, परन्तु उसमें अत्यन्त संस्कृत-गर्भित पंडिताऊ खड़ी बोली का प्रयोग होता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतने के बाद राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने स्वतंत्र रूप से दो नई शैलियों का अनुसंधान किया। राजा शिवप्रसाद की भाषा में पहले 'हिंदीपन' ही अधिक था, परन्तु उन्होंने शिक्षा विभाग में प्रवेश किया और चाहे जिस कारण से हो धीरे-धीरे उनकी भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों की मात्रा बढ़ती गई। उनके वाक्यों की रचना भी उर्दू के ढंग पर होने लगी। राजा साहब की शैली का विरोध भी खूब हुआ। हिन्दी लेखकों का एक वर्ग संस्कृत शब्दों, संस्कृत प्रयोगों और संस्कृत ढंग पर वाक्य रचना की ओर मुड़ा। यह प्रतिक्रिया थी। इसके फलस्वरूप जिस भाषा का प्रयोग हुआ वह तत्सम-गर्भित साधारण बोलचाल से दूर और क्लिष्ट थी। उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं होता था और कहावतों का नाम भी नहीं था। बोल-चाल के शब्द ग्रामीण समझ कर दूर रखे जाते थे। इस भाषा-शैली के प्रतिनिधि राजा लक्ष्मणसिंह थे। राजा लक्ष्मणसिंह का लक्ष्य था विशुद्ध हिंदी जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रधानता हो। संस्कृत महाकाव्य 'रघुवंश' के अनुवाद के प्राक्कथन में उन्होंने कहा था—"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फ़ारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस

भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।" फलतः दोनों गद्यकार अपने-अपने हठ पर अड़े रहे। जहाँ राजा शिवप्रसाद की भाषा और उर्दू में लिपि के सिवा और कोई भेद नहीं रह गया, वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इतनी संस्कृत-गर्भित हो गई कि वह एकदम अव्यावहारिक थी। यह परिस्थिति १८७३ ई० तक रही जब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" के साथ व्यावहारिक हिन्दी की नींव डाली और लेखक-निर्माण के द्वारा उसकी परंपरा स्थापित की। इससे पहले भारतेन्दु कई नाटक लिख चुके थे, परन्तु तब तक भाषा-सम्बन्धी किसी निश्चित सिद्धान्त पर वे नहीं पहुँचे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १८५० ई० तक भाषा के अनेक रूप प्रतिष्ठा पा सके थे। इन अनेक रूपों को समझे बिना हम हिन्दी भाषा-शैली के विकास का इतिहास नहीं लिख सकते। नीचे हम उन्नीसवीं शताब्दी के पहले ५० वर्षों के गद्य के उद्धरण देते हैं जिससे भाषा-विकास पर प्रकाश पड़ेगा।

१—हिन्दुस्तान में बरहमन था अहमक, और जोरू उसकी चतुर छिनाल; अकसर उसको बुद फ़रेब दे ईआर पास जाया करे, एक रोज़ ईआर ने कहा "किसू तरह उस बेवक़ूफ़ को निकालो तो हम तुम बफ़राग़त खुशीआँ करें" उस बदकार ने खसम से कहा कि "आज फ़लाने मुहल्ले में मैं गई थी, सब रंडियाँ मुझे कहने लगीं कि 'तू ऐसी अक़्लमंद और शौहर तेरा ऐसा गाउदी!" यह बात निपट कड़वी दिल को लगी. अब मेरी तुम्हारी सोहबत न होगी, जब तक कुछ शास्तर पढ़ कर न आओगे" आखिर यह इलम के लिये बिदेस को गया (दि ऑरिएण्टल लिंग्विस्ट, १७९८ ई० ।)

२- "···बाद अज़ान काज़ी मुफ़्ती से पूछा, कहो अब इसकी क्या सज़ा है, उन्होंने अर्ज़ की कि अगर इबरत के वास्ते ऐसा शख्स कत्ल

किया जावे, तो दुरुस्त है। तब उसे क़त्ल किया और उसके बेटे को उसकी जगह सफ़राज़ फ़रमाया; शहर-शहर के हाकिम इस अदालत की आवाज़ सुन कर जहाँ के तहाँ सीधे हिसाब हो गए, बस इसी एक इन्साफ़ से, जिस किसू ने जहाँ कहीं उस बादशाह की कलमरों में ज़ुल्म के वास्ते हाथ-पाँव फैलाये थे, फ़िलफ़ौर खींच लिये। जब लग वह आदिल ज़िंदा रहा, किसू ग़नीम ने सिर न उठाया और हाकिमों ने रय्यत के ज़ुल्म से हाथ उठाया, खुलासा यह है, जो बादशाह आदिल ख़ुद मुख़्तार अक़्लमन्द हो, तो क्या माने उसका मुल्क अमन-अमान से हमेशा आबाद न रहे, यन रहे पर रहे।" (वही, १८०२ ई० का संस्करण)

३—इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जाने जाने कर्म किये से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि "गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनको जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन-रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते, औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता-पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे बैर करते हैं, ऐसे जो पापीजन हैं सो महा डरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।" (नासिकेतोपाख्यान, १८०३)

४—"श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी, जीव-जन्तुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आई थी, सोई सूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की-सी चमक थी, बगपाँत ठौर-ठौर ध्वजा-सी फहराय रही थी, दादुर,

मोर, कड़खैतों की-सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी २ बूँदों की झड़ी बाणों की-सी झड़ी लगी थी।

इतना कह महादेव जी गिरजा को साथ ले गंगातीर पर जाय नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़-प्यार से लगे पार्वतीजी का वस्त्र-आभूषण पहिनाने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, तांडव नाच-नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय-गाय लगे रिझाने।

× × ×

जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छबि-छीन हो गया, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी पड़ने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सरक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा, आँखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग-मीन खंजन खिसाय रहे।" (प्रेमसागर १८०३ ई० ।)

५—"ओ यिह बात साहिब फ़िक्र पर अयाँ है कि किसी मुल्कियसी में अगरचि बहुत देशी-भाषा बल्कि बाज़ी ज़बाने मुख़तलफ़ भी बोलने में आती हैं तो भी दरबारी और दारुल्सल्तनत की ज़बान ला कलाम फाइदे में औरों पर तरजीह रखती है जो इसी सबब से वहाँ सब कोई क्या अजनबी पहले इसी को मुक़द्दम जान कर इस्तेमाल में लाते हैं।" (Essays and Theses Composed—विलियम बटरवर्थ बोली, १८०४ ई० ।)

६—"शिष्य। मुझको अनुग्रह करके जो कह चुका उसी से कृतज्ञ हुआ। मुझको अब बोध होता मनुष्यों के उपकार के लिये यह जगत् एक भंडार हुआ है, इसलिये परमेश्वर की प्रशंसा करने को हमको आवश्यक। इसी जगत में कोटि २ मनुष्य हैं। उन सबों के लिए ऐसी खाद्य-द्रव्य प्रस्तुत हैं कि अभाव होगा यह शंका कभी नहीं है। परमेश्वर

ने मनुष्यों के प्राणरक्षा के लिये जिन वस्तुओं की सृष्टि की उनमें विचार करने से हमारा बड़ा आश्चर्य बोध होता है।" (पदार्थ-सार, १८४६।)

७—"एक दुखिया गधा था जो बुढ़ापे में अति अशक्त हो गया, एक दिन यह हुआ कि वह एक भारी बोझ को उठा न सका; तब उसका कठोर स्वामी उसको मारने लगा। तब दुखिया गधा रोय के बोला, देखो संसार की रीति कैसी है जो बेबस होय एक बेर अपराध करे उसकी वर्षों की सेवा भूल जाती।" (शिष्य बोधक, १८४६।)

८—"यह इश्तिहार सब लोगों में प्रसिद्ध हूजियो। नकशे ज़िलों के जिनके नाम किनारे पे लिखे जाते हैं। सितँबर महीने में नागरी और फ़ारसी अक्षरों में काग़ज़ श्री रामपुर पै छप कर हर एक ज़िले में मदरसों के ज़िले वज़ीटर के पास बिकने को भेजे जायेंगे ये नक़शे रंगीन होंगे और इनमें ज़िले के शहर और कसबे और गाँव की आबादी राहें नदियाँ थाने चौकियाँ सब लिखी जायगी"...इत्यादि [सन् १८५० ई० के सरकारी गज़ट (उत्तर पश्चिम प्रदेश) में प्रकाशित एक इश्तहार की भाषा का नमूना।]

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि १८५० से पहले भाषा के अनेक रूप थे—

(१) ईसाइयों की भाषा,

(२) सदासुखलाल 'नियाज़', इंशाउल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूलाल की भाषा-शैलियाँ,

(३) सरकारी सूचनाओं की भाषा,

(४) सामान्य पंडिताऊ भाषा-शैली जिसका व्यापक प्रयोग तीर्थ-पंडों, पंडितों और हिंदी शिक्षित वर्ग में हो रहा था।

यह स्पष्ट है कि अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से पहले पंडिताऊ भाषा ही सामान्य खड़ी बोली भाषा थी। इसे ही 'भाखा' कहा जाता

था। इसमें उर्दू गद्य जैसा परिमार्जन संभव नहीं था। कथावाचक-रूप को ही अधिक प्रधानता मिली थी। इस प्रकार का गद्य का सबसे पहला उद्धरण अकबर के समय (१५५६-१६२३) में गंग कवि की गद्य पुस्तक 'चंद छंद बरणन की महिमा' में मिलता है—

"सिद्धिश्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपति जी अकबरसाह जी आम खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।

× × ×

इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबरसाहिजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।" इस उद्धरण की विवेचना करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"इस अवतरण से स्पष्ट लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न २ प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती; यह हिंदी खड़ी बोली है। यद्यपि पहले से साहित्य भाषा के रूप में स्वीकृत होने के कारण इसमें अधिक रचना नहीं पाई जाती, पर यह बात नहीं है कि इसमें ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे। दिल्ली राजधानी होने के कारण जब से शिष्ट समाज के बीच इसका व्यवहार बढ़ा, तभी से इधर उधर कुछ पुस्तकें इस भाषा के गद्य में लिखी जाने लगी।" (हिंदी साहित्य का इतिहास, ४८६-७)। गंग का संबंध खड़ी बोली प्रदेश (दिल्ली) से था, परंतु यह निश्चित है कि व्यापक रूप से खड़ी बोली गद्य के प्रयोग अट्ठारहवीं शताब्दी में हो रहे थे और उनका संबंध पटियाला, बसवा (मध्यप्रदेश) राजस्थान और आगरा

एवं लखनऊ से हैं। वास्तव में सारा हिंदी प्रदेश इन प्रयोगों के भीतर आ जाता है। इन प्रयोगों का समय १७४१ ई० से १८०३ ई० तक चलता है।

१—(क) "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं × × × जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है, जिस आनंद से सब जीव जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह उत्पन्न हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधिसहित प्रणाम करके बैठ और बिनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जानन हारे हो, मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों को प्राप्त होता है। कर्म से अंतःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

(ख) "हे राम जी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × × मलीन वासना जन्मों के कारण है। ऐसी वासना को छोड़ कर जब तुम स्थित होगे, तब तुम कर्ता हुये भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष, शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे, तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बंधन में न आवोगे।" (योगवासिष्ठ—रामप्रसाद 'निरंजनी', १७४१ ई०)

२—"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक-समान सदा भोगोपभोग करें

हैं और भूमि विषै साँठेन के बड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।" (पद्म-पुराण—पं० दौलतराम १७६१ ई०)

३—"अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुआ। इस लफ्ज का बिगड़ कर मंडावर हुआ है।" (मंडावर का वर्णन—लेखक अज्ञात, १७७३ ई०—१७८३ ई०।)

४—"इससे जान गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धन-द्रव्य इकठौर कीजिये। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।" (मुंशी सदासुखलाल नियाज, १७४६-ई०—१८२४ ई०)

५—"एक दिन बैठे-बैठे यह बात ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जा के मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। × × × अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए....और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो। बस, जैसे भले

लोग—अच्छों में अच्छे—आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की भी न हो। यह नहीं होने का (उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी इंशा, १७६८-१८०३।)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि आधुनिक खड़ी हिन्दी गद्य का समय अकबर के समय तक ले जाया जा सकता। गंग का अवतरण इस बात का साक्षी है। जिस रूप में गंग का गद्य उपलब्ध है उससे स्पष्ट है कि उसका प्रचलन और पहले भी होगा। परन्तु गंग से पहले के नमूने हमें उपलब्ध नहीं। फिर भी गद्य की परंपरा ३५०-४०० वर्ष पीछे तक चली जाती है। गंग की भाषा पंडिताऊपन लिए है, परंतु यही भाषा मुसलमानों द्वारा संस्कृत होकर अठारहवीं शताब्दी में व्यापक रूप से व्यवहृत हुई है। आधुनिक खड़ी बोली गद्य के इतिहास में मुसलमानों का श्रेय क्या है, कितना है, इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने विस्तारपूर्वक लिखा है—"खड़ी बोली का रूप-रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिन्दी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा-सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमानी दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। परन्तु × × × मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ-साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू साहित्य के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं। धीरे-धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य की शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अँग्रेज़ी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी, मुंशी आदि फ़ारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके

असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिन्दू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े-लिखे या विद्वान् होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।

रीतिकाल के समाप्त होते-होते अँग्रेज़ी राज्य पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अतः अँग्रेज़ों के लिए यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच दो ढंग की भाषायें चलती थीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।

"अँग्रेज़ यद्यपि विदेशी थे पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है, न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसलिए जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिन्दी (शुद्ध खड़ी बोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं और न हिन्दी में। जिस समय फोर्ट विलियम की ओर से उर्दू और हिंदी गद्य की पुस्तकें लिखने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिन्दी खड़ी बोली में गद्य की कई पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। × × जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिंदू व्यापारियों तथा अन्य वर्ग के लोगों को जीविका के लिए देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैलना पड़ा और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई उसी समय से लोगों का ध्यान उसमें गद्य लिखने की ओर गया।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६०-६६१)

वास्तव में खड़ी बोली उर्दू गद्य का विकास धीरे-धीरे पहले ही हो रहा था और पद्य के रूप में जिस खड़ी बोली उर्दू का प्रयोग बहुत दिनों से हो रहा था, वह सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत परिमार्जित हो

चुकी थी। इंशा की पुस्तक (रानी केतकी की कहानी) से हमें इस परिमार्जन की बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। एक उदाहरण देखिये—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच लिख देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत, अवधूत दे गया है, हाथ मुटकवाकर छिनवा लूँगी।" हिन्दी गद्य का यह रूप अपने समय में सबसे प्रगतिशील था—केवल एक कमी थी इसमें बनावट अधिक थी और जान-बूझ कर संस्कृत तत्सम (प्रचलित) शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया था। परन्तु फिर भी यह रूप ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के लिये प्रयोग में नहीं आ सकता था—यह इतना अविकसित था। आवश्यकता इस बात की थी कि पंडिताऊ-प्रधान खड़ी बोली गद्य को ही परिणित किया जाय और उसे नागरिक बनाया जाय। व्यापक प्रयोग इसी प्रकार के गद्य का संभव था। इसी से हम देखते हैं कि 'मध्य देश की भाषा' का नाम देकर 'उदन्त मार्तन्ड' (१६२६) के संपादक ने इसी पंडिताऊ खड़ी भाषा का प्रयोग किया। उदंत मार्तन्ड द्वारा प्रचुर खड़ी भाषा का रूप इन उद्धरणों से स्पष्ट होगा—

(१) एक मुंशी वकील वकालत का काम करते करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया औ प्रसन्न होकर बोला—हे महाराज आपने जो फलाने का पुराना औ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुन कर वकील पछता करके बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोकदमें से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे

आप मरते समय हमें हाथ उठाके दे गए औ हमने भी उसको बना रखा औ अब तक भली-भाँति अपना दिन काटा औ वही मोकद्दमा तुमको सौंपकर समझा था कि तुम भी अपने बेटे-पोते-परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े ही दिनों में उसे खो बैठे।

(२) १६ नवम्बर को अवधविहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटीं। उस दिन तीसरे पहर को स्टर्लिंग साहिब औ हेल साहिब औ मेजर फिंडल लार्ड साहिब की ओर से अवधविहारी की छावनी में जा करके बड़े साहिब का सलाम कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवधविहारी बादशाह के जाने के लिए कानपुर के तले गंगा में नावों की पुलबंदी हुई और बादशाह बड़े ठाट से गंगापार हो गवरनर जेनरल बहादुर के सन्निध गये।

इस शैली का ही अधिक तत्सम गर्भित-रूप बंगदूत (१८२६ ई०) में मिलता है—"जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्म परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।" १८३६ ई० में प्रकाशित 'कथासार' ग्रन्थ से (जो मार्शमैन साहेब के प्राचीन इतिहास का पंडित रतनलाल द्वारा किया हुआ अनुवाद है) १८५० ई० से पहले के सुव्यवस्थित गद्य का एक और नमूना मिल सकता है—"परंतु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिए प्रजा की सहायता से पिसिसट्टेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबा कर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अत्याचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और विद्वानों में अग्रगण्य था।" इसी वर्ष (१८३६) हमारे संयुक्त

प्रदेश के सदर बोर्ड की तरफ़ से एक 'इश्तहार नामः' हिन्दी में निकला था। वह इस प्रकार है—

'पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फ़ारसी ज़बान में लिखा-पढ़ी होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है और जब कोई अपनी अर्ज़ी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन-आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवारबदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करें कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौन अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई० ।')

ऊपर जो अवतरण दिये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले ५० वर्षों में भाषा के अनेक प्रयोग हुए परन्तु सामान्य भाषा का रूप पंडिताऊ था। अनेक प्रान्तों में इसी भाषा-शैली का प्रयोग हुआ और सैकड़ों प्रांतीय शब्दों और प्रयोगों का समावेश हो गया। १८३७ ई० में उर्दू राजभाषा घोषित कर दी गई। सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फ़ारसीमय रूप लिखने पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया। जीविका और मान-मर्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। देश-भाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिन्दी की काव्य परंपरा यद्यपि राजदरबारों के आश्रय में चली चलती थी पर उसके पढ़ने वालों की संख्या भी घटती जा रही थी। नव-शिक्षित लोगों का लगाव उसके साथ कम होता जा रहा था। फलतः जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फ़ारसी के अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई।......

हिन्दी, उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी। (वही, पृ० ५१२)

संक्षेप में हिन्दी भाषा की अवस्था उस समय अत्यन्त दयनीय थी। सरकारी वर्ग में तो उसका नाम लेता ही कोई नहीं था। जनता का पढ़ा-लिखा वर्ग उर्दू भाषा और उर्दू लिपि को अपना रहा था। जो साधारण पढ़ा-लिखा और पंडित वर्ग हिन्दी (नागरी) अक्षरों का प्रयोग कर रहा था, उसकी भाषा 'पंडिताऊ हिन्दी' (भाषा) थी और विभिन्न प्रदेशों में प्रान्तीय शब्दों और प्रयोगों के कारण उसके भी अनेक रूप हो रहे थे। ऐसे समय में भारतेन्दु और शिवप्रसाद ने भाषा-शैली के क्षेत्र में प्रवेश किया। राजा शिवप्रसाद पहले आये। उन्होंने शिक्षा विभाग के द्वारा भाषा-शैली के इतिहास में क्रांति करने की चेष्टा की यद्यपि वे जानते थे, यह काम बड़ा कठिन है। स्वयं राजा साहब ने कहा है—"शुद्ध हिन्दी चाहने वालों को हम यह यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फ़ारसी हरफ़ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बेफायदा होगी।" इसीलिए उन्होंने एक बड़ी सुन्दर और सतर्क नीति का प्रयोग करना चाहा। उन्होंने परिस्थिति के खुल्लमखुल्ला विरोध का साहस नहीं किया। उनकी नीति इस प्रकार थी :—

१. राजकार्यों में केवल देवनागरी लिपि का प्रयोग हो।

"If we cannot make Court Character which is unfortunately Persian, universally used to the exclusion of Devanagri, I do not see why we should attempt to create a new language."

(इतिहास तिमिरनाशक, भाग १, १८८३ ई०, भूमिका)

२. आमफ़हम (सरल) अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हो।

"I may be pardoned for saying a few words here to those who always use the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books, and use in their instead Sanskrit words, quite out of place and fashion, or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population." (वही)

३. उसमें राजभाषा के शब्द ग्रहण कर लिए जायें और प्रांतीय बोलियों के शब्दों का बहिष्कार हो।

"...to try our best to help the people in increasing their familiarity with the court language and in polishing their dialects, than to make them strangers to the court of the districts and ashamed when they talk before the higher classes." (वही)

राजा शिवप्रसाद के भाषासुधार-संबंधी प्रयत्नों की व्याख्या करते हुए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कहते हैं—

"उच्च श्रेणी के लोगों और जनसाधारण के बीच भाषा-सम्बन्धी खाई पटने की उनको सबसे अधिक चिंता थी। इस चिंता में जन-साधारण की भाषा की ओर झुकने के बजाय वे अदालती भाषा की ओर झुके। लल्लूलाल की शैली में लिखी गई हिन्दी को वे पिछड़ी हुई चीज़ समझते थे। विशुद्ध हिन्दी के साथ-साथ फ़ारसी शब्दावली से लदी हुई उर्दू भी उन्हें नापसन्द थी और मदरसे के हिन्दू-मुसलिम विद्यार्थियों के लिए एक सर्वमान्य भाषा भी बनाना चाहते थे।"

(आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ४७) वास्तव में राजा साहब का सारा विद्रोह असंस्कृत बोलियों (ब्रज, अवधी आदि) के कारण था जिनका सामान्य हिन्दी भाषा (पंडिताऊ हिंदी या 'भाखा') में बराबर प्रयोग हो रहा था। वही आलोचक फिर कहते हैं—"देवनागरी लिपि के स्थान पर फ़ारसी लिपि का प्रयोग वे अच्छा नहीं समझते थे। लेकिन जितना प्रयत्न उन्होंने हिन्दी को 'फ़ैशनेबुल' बनाने में किया उससे आधा प्रयत्न भी उन्होंने अदालतों में देवनागरी लिपि के व्यवहार के लिए नहीं किया। दूसरे, तत्कालीन परिस्थितियों में उनको यही संभव दिखाई पड़ा कि एक आम भाषा बनाने के लिए ठेठ हिन्दी का आश्रय लिया जाय जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्द भी आ जायें। दुर्भाग्यवश इस भाषा का आदर्श नमूना उन्हें अदालती भाषा में मिला।" (वही, पृ० ४७) 'भूगोलहस्तामलक' (१८७७ ई०) में राजा साहब ने जो हिन्दी लिखी है उसके संबंध में कदाचित् कोई शिकायत नहीं थी।

"निदान इस भारतवर्ष में जो सब देश-प्रदेश और नदी-पर्वत हैं थोड़ा-बहुत उन सबका वर्णन हो चुका, यदि उन्हें किसी नक़्शे में देखो तो साफ़ नज़र पड़ जायगा कि ऊपर अर्थात् उत्तर में सिंध नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र तक सरासर हिमालय पहाड़ की श्रेणी चली गई है जिसमें उत्तर खंड के सुन्दर ठंडे और अति रम्य मनोहर मुल्क बसते हैं। शास्त्र में भी उनकी बड़ी प्रशंसा है, उदासीन जनों के चित्त को उससे अधिक प्यारा दूसरा कोई स्थान नहीं है। इन पहाड़ों की जड़ में कोई तीस-चालीस मील चौड़ा बड़े भारी घने जंगलों से घिरा हुआ वह स्थान है जिसे तराई कहते हैं, गर्मी और बरसात में इस तराई की हवा विशेष करके नैपाल से नीचे-नीचे ऐसी बिगड़ जाती है कि बहुधा पशुपक्षी भी अपनी जान बचाने के लिए वहाँ से निकल भागते हैं।" (ग्रं० १, भाग २, पृ० १४६) परन्तु राजा साहब उत्तरोत्तर अधिक फ़ारसी-अरबी शब्दों का समावेश करते गये। १८६१ ई० में 'स्वयं बोध उर्दू' में उन्होंने

लिखा—"उर्दू जो अब हमारे मुल्क की मुख्य भाषा गिनी जाती है और कचहरियों में सारे कागज़ पत्र इसी के दर्मियान लिखे जाते हैं।" एक अन्य स्थान पर वह और भी आगे बढ़ गये—

"Our court language is Urdu, and the court language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day. Urdu is now beginning to become our mother tongue as it is spoken more or less, and well or badly, by all in the North-Western Provinces."

राजा साहब की भाषा-सम्बन्धी पालिसी का राजा लक्ष्मणसिंह और अन्य विद्वानों द्वारा गहरा विरोध हुआ, परन्तु इससे उनका ऐतिहासिक महत्व कम नहीं हो जाता।

खड़ी बोली हिंदी की गद्य-शैली के विकास में राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु हरिश्चंद का काम परस्पर पूरक जैसा है। यह स्पष्ट है कि यदि राजा साहब का प्रयत्न न होता और हिंदी को पाठ्य-विषयों में स्थान न दिलवा कर उन्होंने उसे शिक्षा का माध्यम स्वीकृत न करवाया होता तो हिंदी के पठन-पाठन को उत्तेजना न मिलती और केवल कुछ लोगों के सिवाय जो जातीयता और जाति-भाषा के पक्षपाती थे, उसका प्रयोग कोई न करता। फिर उसमें भाषा के निश्चित रूप और शैली की प्रतिष्ठा की बात ही क्या?

परंतु राजा साहब का काम एक विशेष सीमा से आगे नहीं बढ़ा। वास्तव में जिस कूटनीति की आवश्यकता थी, वह राजा साहब चल रहे थे। परंतु एक ओर अधिकारी वर्ग और सर सैयद अहमद खाँ जैसे मुसलमान नेताओं की सतर्कता और दूसरी ओर स्वयं हिंदुओं के विरोध के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली और वे प्रतिक्रियावादी

हो गये। जहाँ पहले वे नीति के लिए उर्दू लिपि और थोड़े-बहुत उर्दू-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग की ओर झुकते थे, वहाँ पिछले वर्षों में वे एकदम उर्दू प्रेमी बन गये।

भारतेन्दु-पूर्व-काल में भाषा-शैली के विषय में लोगों का दृष्टिकोण निश्चित नहीं था। कुछ उद्धरणों से यह बात स्पष्टतया समझी जा सकेगी—१. "नूरजहाँ अति सुन्दर चतुरी विद्या में निपुण, कविता-दक्ष, इंगताप ऊदर राज कारज में सुबुधि स्वधरम सावधान, हाव-भाव लीला-विलास, धुरंधुर नृत्य गीत में खबरदारी सोरभ धैरज सम्पन्न हसती। तापर पातस्याह अति मोदित होई मुख्य बेगम कीनी। जाको छण मात्र विरह पातस्याह को नाम मात्र रह्यो और हुकुम सब नूरजहाँ को ठहर्यो। कागद फरमान उगैरे बेगम के नाम के चले। सिका में पातस्याह वा बेगम को नाम दोऊन कौ नाम हतौ। पातसाह कहते हुवे सो कौ एक सीसी मदिरा कौवा आध सेर मांस चाहिये और सब बेगम कौ हुकुम हासिल। खान आलम एलची इरान गयो हुतो सो आयो। इरान को पातस्याह वासौं निपट राजी रह्यो। जान आलमैं नाम दियो हतो। बड़ो चतुर दूत करम में सावधान हतो। इरान कौ पातस्याह सनेह बस वाके घर आवतो। पातस्याहज़ादो सुलतान खुर्रम के तीन बेटा भये दारासीकोह मुराद बकस। दो पहले भये हुते। गुजरात के सूबा दोहद गाँव में औरंगजेब भयो। आगरा तें लगाय लाहोर ताई पौणा दो-दो कोस।"

(व्रजभाषा गद्य में दो सौ वर्ष पुराना मुग़ल वंश का संक्षिप्त इतिहास। १७२०-२१ या आस-पास का गद्य—'हिन्दुस्तानी', जनवरी १९३८)

२. ...आज़मशाह ने बहुत से कवियों को बुलवाय बिहारी सतसई को शृंगार के और ग्रंथों के क्रम से क्रम मिलाय लिखवाया। इसीसे आज़म-शाही सतसई नाम हुआ। और सतसई में नृपस्तुति के दोहे छोड़ जो

दोहे सात सौ से अधिक और कवियों के बनाये, जो मिले हैं तिनमें से जिसका ठिकाना टीकाकारों के ग्रंथ में पाया तिसे पीछे रहने दिया और जिसका प्रमाण नहीं पाया तिसे निकाल बाहर किया। और अधिक दोहे कवियों के रहने दिये इसलिए कि वे ऐसे मिल गये हैं कि हर किसी को मालूम नहीं सिवाय प्राचीन सतसई देखने वालों के। और जो अधिक दोहे इस ग्रंथ में न रखते तो लोक कहते कि सतसई में से दोहे निकाल डाले, और यह कोई न समझता कि वे सतसई के दोहे न थे। इसलिए दो टीकाकारों का प्रमान ले, अधिक दोहे रहने दिये।

ग्रंथ छपा संस्कृत प्रेस में। छापा श्री गुरुदास पाल ने। जिस किसी को छापे की पोथी लेने की अभिलाषा हो। लालचंद्रिका माधव विलास......तिसे कलकत्ते में दो ठौर मिलेगी। एक पटल डाँगे में श्री लल्लूजी के छापेखाने में औ दूजे बड़े बाज़ार में श्री बाबू मोतीचंद गोपालदास की कोठी में श्री हरिदेव सेठ के यहाँ। (भूमिका लालचंद्रिका, १८७५ वि०)

३. याचक तो अपना-अपना वांछित पदार्थ पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं, परंतु जो राजा अपने अंतःकरण मे प्रजा का निर्वाह करता है नित्य-नित्य चिंता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीत कर वश किये उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन-रात मन को विकल रखता है, जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।

(शकुन्तला नाटक—अंक ५)

४. बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और ख़ज़ाना उसका सोना-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में

भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गज़ी चाहता उसे मखमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेंह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता।

(राजा भोज का सपना—१)

अधिकांश गद्य में प्रांतीयता की प्रधानता थी। जो लेखक जिस प्रांत का होता, वह उसकी बोली से अपने गद्य को भर देता था। इस प्रकार भाषा और शैली का निश्चित रूप कोई नहीं बन पड़ता था। लेखकों की भाषा में बड़ा भेद रहता। इंशा, लल्लू जी लाल और सदल मिश्र की भाषा-शैली को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इंशा की भाषा पर लखनऊ की हिंदी का प्रभाव है तो लल्लू जी की भाषा पर ब्रज का। इंशा लखनऊ में रहते थे, लल्लूलालजी आगरे में। एक दूसरी बात यह थी कि इससे पहले गद्य का प्रयोग टीकाओं के लिए चल पड़ा था। टीकाओं के विषय में लिखते हुए हमने उनकी पंडिताऊ और संस्कृत अन्वय के ढंग की भाषा-शैली के विषय में लिखा है। कथा-पाठ की शैली तो आज के पंडित वर्ग में भी चल रही है और हम उसके रूप से भली-भाँति परिचित हैं। इस पंडिताऊ शैली की ओर भी लेखकों को बार-बार झुकना पड़ता था। सदल मिश्र की भाषा के पंडिताऊपन को दृष्टि की ओट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय हिंदी गद्य प्रांतीयता के मोह और संस्कृत भाषा-शैली के ढंग पर भाषा-संस्कार (पंडिताऊपन) के बीच में से गुज़र रहा था। इन दो महत्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उस समय तक पद्य की प्रधानता होने के कारण लेखक गद्य लिखते समय पद्य की ओर झुक जाते थे। संस्कृत काव्य से परिचित लोगों को अलंकार-प्रयोग, अनुप्रास, शब्दालंकारों के चमत्कार और समास के प्रति भी मोह था। कादम्बरी की भाषा उन्हें अपनी ओर

खींचती थी। उर्दू गद्य में भी इस समय मुरव्वजा मुकफ़्फ़ा गद्य की प्रधानता थी। इसको देख कर हिंदी में भी अन्त्यानुप्रास प्रयोग प्रारम्भ हुआ। वैसे थोड़ी बहुत तुकबंदी—वाक्य खंडों अथवा वाक्यों के अंत में तुक का प्रयोग—पंडित गद्य में चली आती थी। यह दोष राजा शिवप्रसाद ने दूर करना चाहा, परंतु वे असफल रहे। इसका कारण यह था कि सरकारी क्षेत्र में उनका प्रभाव जितना हो, गद्य-लेखकों में उनका प्रभाव अधिक नहीं था। फल यह हुआ कि इन दोनों दोषों और शैलियों के साथ ही उनकी भी एक शैली प्रतिष्ठित हो गई। उनकी शैली में भी अपने दोष थे—(१) अधिक संख्या में उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग, (२) वाक्यों की रचना उर्दू के ढंग पर। राजा साहब के विषय में विस्तृत रूप में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उनकी शैलियों की त्रुटियाँ बतला दी गई हैं जिससे इस क्षेत्र में भारतेन्दु का महत्व जाना जा सके।

राजा साहब की शैली के विरोध ने एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिंदी लेखकों का एक वर्ग संस्कृत शब्दों, संस्कृत प्रयोगों और संस्कृत के ढंग पर वाक्य रचना की ओर झुका। यह प्रतिक्रिया थी, इसके फलस्वरूप जिस भाषा का प्रयोग हुआ, वह तत्सम-गर्भित, साधारण बोलचाल से दूर और क्लिष्ट थी। उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं होता था और कहावतों का नाम भी नहीं। बोल-चाल के शब्द ग्रामीण समझ कर दूर रखे जाते। इस भाषा के प्रतिनिधि राजा लक्ष्मणसिंह थे।

संक्षेप में, भाषा और शैली के संबंध में यही परिस्थिति थी। रस-पुष्टि के रूप में भाषा का प्रयोग बहुत ही कम हुआ था। वैज्ञानिक विषयों की ओर प्रवृत्ति होने और टेक्स्ट बुक सोसाइटी के अनुवादों के कारण सरल सुबोध भाषा-शैली ने जन्म अवश्य ले लिया था, परंतु उसका प्रयोग स्कूल-कालिजों से बाहर नहीं हुआ था। बाहर के क्षेत्र में प्रांतीयता, पंडिताऊपन, उर्दू-फ़ारसी और संस्कृत शब्दावली और

शैली का प्राधान्य था। प्रतिदिन के व्यवहार के शब्द और मुहावरे उपेक्षित थे।

भारतेन्दु ने सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने बोल-चाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया। इसीलिये उन्होंने ऐसी भाषा-शैली की सृष्टि की जिसमें तत्सम शब्दों का अभाव था। जो तत्सम शब्द आते थे वे चाहे फ़ारसी-अरबी के हों, चाहे संस्कृत के, अपने विकृत रूप में तद्भव बन कर आते। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया जो प्रतिदिन के व्यवहार में आकर हिंदी शब्द कोष में सम्मिलित हो गये थे। शब्द-कोष सम्बन्धी एक विशेष संयत दृष्टिकोण को उन्होंने अपने सामने रक्खा।

भारतेन्दु ने जिसके सम्बन्ध में कहा है 'हिंदी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०' वह भाषा-शैली उनकी शुद्ध हिंदी है। १८८४ ई० में भारतेन्दु ने 'हिंदी-भाषा' शीर्षक एक निबंध लिखा है जिसमें उन्होंने अपने समय की भाषा-शैलियों पर विचार किया है और अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया है :

नं० १ जो शुद्ध हिन्दी है—

(१) जहाँ हीरा-मोती, रुपया-पैसा, कपड़ा, अन्न, घी-तेल, अतर-फ़ुलेल, पुस्तक, खिलौने इत्यादि की दुकानों पर हज़ारों लोग काम करते हुए माल लेते हुए बेचते दलाली करते दिखाई पड़ते हैं।' (प्रेमयोगिनी नाटिका)

(२) पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए। क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फंदे में पड़ गये कि इधर की सुधि ही भूल गए ? कहाँ तो वह प्यार की बातें कहाँ एक ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा ! मैं कहाँ जाऊँ, कैसे करूँ मेरी तो

कोई ऐसी मुँहबोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ, कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ !'

उन्होंने अधिकांश गद्य, विशेष कर अपने नाटकों का गद्य इसी शैली में लिखा।

साधारण और सरल विषयों पर लेख लिखते समय भी उन्होंने इसी शैली को अपनाया।

परंतु यह शैली उन्हें सर्वत्र मान्य नहीं थी। ऐतिहासिक और विवेचना-संबंधी विचारपूर्ण और गंभीर विषयों में इससे काम नहीं चल सकता था। ऐसे अवसरों पर कुछ अधिक तत्सम शब्द चाहिएँ, चाहे वे किसी भाषा के हों। भारतेन्दु ने तत्सम शब्द संस्कृत से लिये। उनकी दूसरी शैली यही है।

नं० २ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं—

'सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया। पुल टूट गये, बाँध खुल गये, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराया, सर्प बिलों से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।'

परंतु जब कोई लेखक तत्सम शब्दों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देता है तो वह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उसे कहाँ जाकर रुकना है। यही बात भारतेन्दु के संबंध में भी लागू रही। उनके कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत शब्द बहुत अधिक मिलते हैं। भारतेन्दु न राजा शिवप्रसाद की फ़ारसी-अरबी-प्रधान भाषा चाहते थे, न राजा लक्ष्मण-सिंह की संस्कृत प्रधान भाषा उन्हें प्रिय थी। उन्होंने सामंजस्य से प्रारम्भ किया परंतु शीघ्र ही गद्य उनके हाथ से निकल कर अन्य लेखकों के हाथ में चला गया। लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र,

बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने प्रचुर गद्य-साहित्य उपस्थित किया और उपन्यास नाटक और निबंध-साहित्य की रचना की। विषयों और रुचियों की विभिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। ये सब भारतेन्दु-मंडली के लेखक कहे जाते हैं, परंतु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुए भी इन सबों का गद्य अनेक रूपों में स्वतंत्र है। उदाहरण के लिए श्रीनिवासदास के गद्य में उर्दू-शब्दावली नहीं के बराबर है और संस्कृत शब्दों का प्राधान्य है परंतु प्रतापनारायण मिश्र के लेखों में संस्कृत और फ़ारसी दोनों प्रकार की शब्दावली का सम प्रयोग पाते हैं। उन्होंने शैली को सरस और सजीव बनाने की बड़ी चेष्टा की। इससे वे उर्दू शब्दावली को त्याग नहीं सकते थे। भट्ट जी बोल-चाल के अधिक निकट रहते थे। चौधरीजी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी पड़ी थी। उन्होंने ही पहली बार संस्कृत के अध्ययन के आधार पर कला के अनुसार भाषा को गढ़ना और उनके अपने शब्दों में अपनी शैली को "सुडौल और सुन्दर" बनाना आरम्भ किया। अनुप्रास, चमत्कार और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उनकी भाषा-शैली को उनके समकालीन लेखकों की भाषा-शैली के समक्ष विचित्र सा बना देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के नई शैली चलाने (१८७३) के कुछ वर्षों बाद शैली उनके हाथ से निकल कर संस्कृत पंडित तक पहुँच गई थी। भाषा की आवश्यकताएँ भी बढ़ गई थीं। वह अत्यंत शीघ्रता से प्रौढ़ हुई। भारतेन्दु के अंतिम काल के लेखकों से स्पष्ट है कि उनके समकालीन लेखकों की संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रचार उन पर भी पड़ा और उन्होंने अधिक से अधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने गद्य-शैली की स्वाभाविक प्रवृत्ति को समझ लिया था। उनके "नाट्य रचना" के लेख में इसी प्रकार की संस्कृतप्रधान-शैली का प्रयोग हुआ है। कदाचित् इसका एक और भी कारण है। उनका

विषय अत्यंत गंभीर था। उसमें संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग आवश्यक था और ऐसी दशा में उनकी शैली न शुद्ध हिंदी हो सकती थी, न ऐसी हिंदी जिसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम हो। इस लेख से स्पष्ट है कि यद्यपि भारतेन्दु जी जीवित रहते तो उनकी गंभीर और प्रौढ़ साहित्यिक रचनाएँ इसी शैली में होतीं। भाषा को सरल करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं थी; ऐसी प्रवृत्ति ही हिन्दुस्तानी के मूल में रही है, परंतु उसको बनाए रखना कठिन था।

भारतेन्दु की शुद्ध हिंदी और थोड़े संस्कृत शब्दों वाली शैलियों का ही अधिक प्रयोग हुआ। कलकत्ते से लेकर लाहौर तक सर्वत्र उनकी शैली का प्रयोग हुआ परंतु भिन्न-भिन्न लेखकों के हाथ में जाकर उनकी शैली ने भी भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किया। कहीं प्रांतीयता का पुट मिल गया, कहीं ब्रज-भाषा का (जो सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी), कहीं संस्कृत का प्रयोग अधिक हुआ। भारतेन्दु की शैली का पूरा-पूरा अनुकरण प्रतापनारायण मिश्र ने और कुछ सीमा तक बालकृष्ण भट्ट ने किया। हरिश्चंद के बाद के संभ्रांत लेखक वही रहे। इन्होंने हिंदी गद्य-शैली को बहुत अधिक प्रभावित किया। यही भारतेन्दु के प्रतिनिधि समझे गये थे। इनकी भाषा-शैली परवर्ती काल में सर्वमान्य थी। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सब लेखक इन्हीं की शैली में लिख रहे थे। सच तो यह है कि भारतेन्दु के बाद (१८८५ ई०—१९०३ ई०) भाषा और शैली की दृष्टि से कोई निश्चित मार्ग नहीं था। कभी-कभी एक ही लेखक दो या तीन शैलियों का प्रयोग करता। संस्कृत-प्रधान शैली में भी लिखने वाले कम नहीं थे। पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने संस्कृत-प्रधान भाषा की जो पद्धति उपस्थित की उसे पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया जहाँ केवल क्रिया शब्दों के अतिरिक्त सारा गद्य संस्कृत-गद्य था और कादम्बरी के गद्य की तरह क्लिष्ट समासों से पूर्ण था।

भारतेन्दु के नाटकों में शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से हुआ है और परवर्ती रचनात्मक साहित्य पर उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। वैसे भाषा की दृष्टि से उनकी भाषा शुद्ध हिंदी है परन्तु यहाँ शैली पर अधिक विचार किया जायगा। साधारण रूप से भाषा के विषय में केवल यही कह देते हैं कि उनके नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वह सर्व सरल एवं स्पष्ट है। भाषा क्लिष्ट न हो जाय, इस विषय में भारतेन्दु विशेष सतर्क हैं। इसके लिए जहाँ वे शुद्ध भाषा की दृष्टि से शुद्ध हिंदी का प्रयोग करते थे, वहाँ भावों की दृष्टि से अत्यंत प्रचलित भाव ही सामने रखते थे और जहाँ पौराणिक कथाओं आदि को इंगित करना होता, वहाँ वे यह ध्यान रखते कि वह जन-प्रसिद्ध हो। उनकी भाषा चित्र-प्रधान है। उन्होंने अत्यंत सुंदर चित्र को बड़ी सफलता के साथ खींचा है। इस दिशा में उनकी कवि-प्रतिभा ने बड़ी सहायता दी है—

"सखी सचमुच आज तो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसी समां बँधी है वैसी ही झूलने वाली है। झूलने में रंग-रंग की साड़ी की अर्द्ध-चन्द्राकार रेखा इन्द्रधनुष की छवि दिखाती है। कोई सुख से बैठा झूले की ठंडी-ठंडी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डर कर दूसरे के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।" (भारतेन्दु नाटकावली, श्री चंद्रावली, पृ० ५४२।)

उनकी शैली भाव के पीछे-पीछे चलती है। भावों के उत्थान-पतन को प्रगट करने में वे अत्यंत सफल हैं। इस गुण को रागात्मक कहा जा सकता है। भावानुकूल शैली लिखने में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कोई भी लेखक भारतेन्दु के जोड़ का नहीं है। "भारतेन्दु की शैली का सबसे बड़ा गुण यही है कि वे उसको

भावानुकूल अथवा विषयानुकूल परिवर्तित कर सकते थे और ऐसा करने की उनकी पूरी क्षमता थी।" आदेशपूर्ण स्थलों पर भारतेन्दु छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं, उनका गठन भी एक ही प्रकार का होता है। उनमें प्रवाह की मात्रा बहुत रहती है। ऐसे स्थलों पर वे सरल शब्दों का प्रयोग करते हैं; प्रचलित उर्दू शब्दों को भी वे नहीं छोड़ सकते, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम रहती है। भाषा बोल-चाल के अधिक निकट रहती है। सारे पद की गति अत्यंत क्षिप्र रहती है। साधारण वर्णनात्मक वाक्यों के साथ प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादि बोधक वाक्यों का प्रयोग अवश्य होता है। जहाँ इस प्रकार के वाक्य नहीं भी होते, वहाँ प्रश्नसूचक अथवा विस्मयादि सूचक कुछ शब्द अवश्य रखे रहते हैं। ऐसे स्थानों पर भारतेन्दु नये-नये संबोधन गढ़ते हैं और मुहावरों एवं अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से करते हैं। जहाँ लंबे वाक्यों का प्रयोग होता है, वहाँ वे शिथिल होते हैं और वाक्यांशों में एक प्रकार की लय होती है। कुछ ऐसे विशेष शब्द अवश्य प्रयुक्त होते हैं जो जनता के मनोभावों को सूक्ष्मता एवं सुंदरता से प्रगट कर देते हैं। संक्षेप में, भाषा ऐसी होती है जो ऐसे असंयत अवसरों पर बोली जाती है।

भारतेन्दु की सर्वोत्तम शैलियाँ वही हैं जिनमें उन्होंने मानव-हृदय के व्यापक भावों (हर्ष, शोक, क्षोभ, रति आदि) को प्रगट किया है। उनकी साधारण भाषा-शैली विचार-पुष्टि के नाते महत्त्वपूर्ण है और उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशाब्दों में उसका अनेक प्रकार से प्रयोग हुआ है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से उनकी भाव-प्रधान शैली ही अधिक श्रेय प्राप्त करती रहेगी। नीचे हम विभिन्न भावों और परिस्थितियों में प्रयुक्त कुछ शैलियों के उदाहरण देते हैं:—

करुणा

भारतेन्दु करुणरस के भावों को प्रकट करने में पूर्णतया सिद्धहस्त हैं। सत्य हरिश्चंद में ऐसी भाषा का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है जो इस प्रकार के भावों को बड़ी मार्मिकता से प्रगट करती है। वाक्य अत्यंत छोटे-छोटे होते हैं। एक ही वाक्य की कई बातों में पुनुरुक्ति भी हो जाती है। भाषा सरल बोल-चाल की, जिसमें न कहीं तोड़-मरोड़, न कहीं कृत्रिमता। प्रत्येक शब्द शोक की व्यंजना करता है। सारे पद शोक-बोधक और प्रश्न-वाचक वाक्यों से भरे होते हैं। ऐसे स्थलों की भाषा तद्भव शब्दों से भरी रहती है। न उर्दू-फ़ारसी शब्दो का प्रयोग रहता है, न संस्कृत तत्सम शब्दों का—

"हाय-हाय रे! अरे, मेरे लाला को साँप ने सचमुच डस लिया। हाय लाल! हाय रे! मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया। हाय मेरा बोलता सुग्गा कहाँ उड़ गया! बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! मेरा बसा घर किसने उजाड़ दिया! हाय मेरी आखों में किसने आग लगा दी! हाय! मेरा कलेजा किसने निकाल लिया (चिल्ला-चिल्ला कर रोती है)! हाय! लाल कहाँ गए? अरे, अब मैं किसका मुँह देख कर जिऊँगी रे? अरे, आज किस बैरी की छाती ठंडी भई रे? अरे, अरे, तेरे सुकुमार अंगों पर भी काल को तनिक भी दया न आई! अरे बेटा! आँख खोलो! हाय! मैं सब विपत तुम्हारा ही मुँह देख कर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी! अरे लाल! एक बेर तो बोलो।"

शृंगार

भारतेन्दु की भाषा संयोग और विप्रलंभ दोनों अवसरों के लिए अत्यंत उपयुक्त हैं। परंतु दोनों शैलियों में भेद है। संयोग के अवसर पर शैली काव्यात्मक एवं चित्रात्मक हो जाती है, तद्भव शब्दों के

साथ-साथ संस्कृत तत्सम शब्द भी आते हैं। परन्तु दूसरे प्रकार की शैली में भाषा अधिक नीचे उतर आती है और उसमें प्रांतीय तथा बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। शैली आत्म-व्यंजना की ओर बढ़ती है और कभी प्रलापपूर्ण शैली बन जाती है। मुहावरे, कविताओं और कविता के उद्धरणों का प्रयोग विशेष रूप से होता है।

संयोग शृंगार के स्थलों पर प्रयुक्त भाषा-शैली का एक उदाहरण देखिये—"अहा! इस समय जो मुझे आनंद हुआ है इसका अनुभव और कौन कर सकता है। जो आनंद चंद्रावली को हुआ है वह अनुभव मुझे भी होता है। सच है युगल के अनुग्रह के बिना इस अकथ आनंद का अनुभव और किसको है।" इसी तरह विप्रलंभ शृंगार के स्थलों पर प्रयुक्त भाषा-शैली का नमूना यह है—"प्यारे, अपनी कनौड़ी को जगत की कनौड़ी न बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुण सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा? हाय! मँझधार में डुबा कर ऊपर से उतराई माँगते हो। प्यारे, सो भी दे चुकी; अब तो पार लगाओ। प्यारे, सब की हद होती है। हाय! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुम्ब से छुड़ा कर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन-सी बात है? हाय! सब की आँखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर-दुर, उस पर यह गति। हाय! 'भामिनी ते भौंड़ी करी, भामिनी तें भौंड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें'।"

क्षोभ

क्षोभ के स्थलों पर भारतेन्दु साधु एवं गंभीर भाषा का प्रयोग करते हैं। वाक्य साधारण वाक्यों से कुछ बड़े होते हैं तथा कहीं-कहीं कोई उद्धरण—विशेषकर किसी कविता का कोई उद्धरण—उनमें मिला

होता है। साथ में चिंतना भी चलती रहती है। विस्मयादि बोधक संबोधनों और वाक्यों का प्रयोग होता है। वाक्यांश एक ही प्रकार के होते हैं। उनकी लम्बाई और गठन समान होती है। पात्र स्वयं अपने से प्रश्न करता है तथा अपने मन को उद्बोधन करता है। ऐसे स्थलों पर भाषा चिंतनमूलक होने के कारण तत्सम शब्दों की ओर अधिक झुकती है। चित्त-क्षोभ द्वारा व्यंजना करने में यदि अवकाश रहा तो शैली अधिक गंभीर हो जाती है पर वाक्य प्रायः बड़े ही हो जाते हैं—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बन्धु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भक्ति, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा-नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र दुःखी हो! (नेत्रों में जल भर कर) हा सज्जन शिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना ही दुःख हो उसे सुख मानना'। लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चल के तो प्रेम की टकसाल खड़ी की है......मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रखो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोग बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रखकर विहार करोगे, क्या तुम अपना यह कवित्त भूल गये—"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे, प्यारे हरिश्चंद्र की कहानी रह जायगी।"

(भारतेन्दु नाटकावली, प्रेमयोगिनी, पृ० ७१८)

प्रमाण-स्वरूप तथ्य-निरूपण या वस्तु-वर्णन के समय भाषा में संस्कृत पदावली का समावेश अवश्य हो जाता है किंतु भाषा में

क्लिष्टता या दुरूहता नहीं आने पाती। वाक्य भले ही लंबे हो जायें किंतु सरल रहते हैं—

"सुनिए, काशी का नामान्तर वाराणसी है जहाँ भगवती जाह्नु-नंदिनी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसी लिपटी हैं, मानो इसको शिव की प्यारी जान कर गोद में लेकर आलिंगन कर रही हैं, और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से ताप-भय दूर करती हुई मनुष्य-मात्र को पवित्र करती हैं। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाये बड़े-बड़े घाटों के ऊपर दो मंज़िले, पंच मंज़िले और सत-मंज़िले ऊँचे-ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं मानो हिमालय के श्वेत शृंग सब गंगा-सेवन को एकत्र हुए हैं।"

(भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ७३६ प्रेमयोगिनी)

भावावेश में वाक्य प्रायः छोटे रहते हैं और बोल-चाल की पदा-वली के साथ बोलचाल के उर्दू के भी प्रचलित साधारण शब्द आ जाते हैं—"झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक, क्यों अपनी छाती ठोंक और हाथ उठा कर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते ! भला क्या काम था जो इतना पचड़ा किया ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनन्द था, फिर क्यों यह विस्मय संसार किया ! बखेड़िए ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप ही अपने मुँह से झूठे बने, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता। बेशरमी हो तो इतनी तो हो ! क्या कहना ! लाज को जूतों मार कर पीट-पीट कर निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो ! हाय ! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले-मतवाले बने क्यों लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे-स्वामि

अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकमी बेहया हो। शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सफल हो।"

साधारण रूप से भारतेन्दु की भाषा-शैली के दो भेद कर सकते हैं—(१) भावना-प्रधान (२) गंभीर, विवेचना-प्रधान। पहली प्रकार की शैली का विशद प्रयोग नाटकों में हुआ है, और प्रयोग-भेद के अनुसार उसके अनेक भेद मिल सकते हैं। हम कुछ उदाहरण देते हैं—(१) "कहाँ गया, कहाँ गया? बोल! उलटा कसना—भला अपराध मैंने किया कि तुमने? अच्छा, मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ प्रगट हो, मुँह दिखाओ। यह, बहुत भई, गुदगुदाना वहाँ तक जब तक रुलाई न आवै। हा! भगवान्, किसी को किसी की कनौड़ी न करै, देखो, मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं। आप ही नहीं भी आता, उलटा आप ही रुकता है पर अब क्या करूँ अब तो फँस गई, अच्छा यों ही सही।"

(चंद्रावली नाटिका)

(२) "हाय रे! मेरे आँखों के उँजियाले को कौन ले गया! हाय! मेरा बोलता सुग्गा कहाँ उड़ गया? बेटा, अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय रे, मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया? हाय मेरी कोख में ये किसने आग लगा दी? हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल लिया?"

(सत्य-हरिश्चंद्र)

(३) "ऐसे दरबार को दूर ही से नमस्कार करना चाहिए जहाँ लौंडियाँ पंडितों के मुँह आवें। यदि हमें इसी उचक्की की बातें सहनी हों तो हम वसुन्धरा नाम की अपनी ब्राह्मणी की ही चरन-सेवा करें जो अच्छा-अच्छा और गरम खाने को खिलावें।"

(कर्पूरमंजरी)

४—"तो क्या इस शीतल सरोवर में तुम न नहाओगे? अवश्य

नहाना होगा और अपने जनों को कहो कि इसमें स्नान करें। प्यारे, यह अक्षय सरोवर नित्य भरा रहेगा और इसमें नित्य नये कमल फूलेंगे और कभी इसमें कोई मल न आवैगा और इसी पर प्रेमियों की भीड़ नित्य लगी रहैगी।"

('प्रेम-सरोवर' की भूमिका)

ऊपर की शैलियाँ भेद १ के अन्तर्गत आती हैं जिनमें पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग तो है, रसोद्रेक पर भी दृष्टि है। इसलिए प्रवाह और सरसता पर विशेष आग्रह है। दूसरे प्रकार की शैली उनके निबंधों और गंभीर ग्रंथों की है। उदाहरण-स्वरूप—(१) "किसी चित्रपट द्वारा नहीं, पर्वत, वन या उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिलिपि कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी वा चित्रपट वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरत प्रणीत नाट्य-शास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रसाद, वन, उपवन किंवा शैल-प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा, परन्तु अनुसंधान करने से बोध होता है, कि तत्काल में भी अंतःपटी परिवर्तन द्वारा वन-उपवन-पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी।"

(नाट्य-रचना लेख)

(२) "जंगल में राग-रागिनी का जमघट जमा देख शहर में भी गुनियों ने अपना खटराग अलग निकाला। मियाँ तानसेन का नाम ले-लेकर कानों पर हाथ रखने लगे, सुलझी-सुलझी तानें लेने और गवैयापन का दम भरने लगे। गोद में ढोलक गुटकती थी, बगल में बैठे सितार कुछ जुदा गुनगुना रहे थे। इधर से तानपूरे अलग कान भरते थे, मिरदंग गाना सुन के अलग ही बेताब हो रही थी, मुरचंग रीझ-रीझ कर मुँह अलग चूम लेते थे, कहीं रबाब बजाने

वाले उलझे पड़ते थे। कहीं मँजीरे ताल लय पर सिर हिला देते थे। सब मिल कर एक अजब सुर बँध रहा था।"

(बसंत, लेख, १८७३-७४)

(३) "हिन्दुस्तान के बहुत से पंडितों का निश्चय है कि शिंशिपा शीशम वृक्ष को कहते हैं। किंतु हमारी बुद्धि में शिंशिपा सीताफल अर्थात् शरीफे के वृक्ष को कहते हैं। इसके दो भारी सबूत हैं—प्रथम ता यह कि यदि जानकी जी से शरीफे का कुछ संबंध नहीं, तो सारा हिन्दुस्तान उसे सीताफल क्यों कहता। दूसरे यह कि महाभारत में आदि पर्व में राजा जन्मेजय के सर्पयज्ञ की कथा में एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि आस्तीक की दोहाई सुन कर जो साँप हट न जाय, उसका सिर शिंशवृक्ष के फल की तरह सौ-सौ टुकड़े हो जायगा। शिंश और शिंशपा दोनों एक ही वृक्ष के नाम हैं। यह कोषों से और नामों के संबंध से स्पष्ट है। शीशम के वृक्ष में ऐसा कोई वृक्ष नहीं होता जिसमें बहुत से टुकड़े हों। और शरीफे का फल ठीक ऐसा ही होता है जैसा कि श्लोक ने लिखा है।"

(रामायण का समय, पृ० २१)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भारतेन्दु की भाषा में प्रांतीयता की भावना बहुत कम है। इसी से वह पूर्ववर्ती लेखकों की भाषा की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। उसमें अनुप्रास की प्रवृत्ति ही नहीं है। अलंकारों का प्रयोग लगभग नहीं है, रसपुष्टि और विचार-परिपाक पर दृष्टि अधिक है। इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र तीनों की शैलियों में कादम्बरी आदि के ढंग पर चलती परंपरा के अनुसार (१) वाक्य खंडों के अथवा (२) वाक्यों के अंत में तुकबंदी का प्रयोग भी हुआ है जैसे—

"× × × जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखलाया जिसका भेद किसी ने न पाया।"

(इंशा)

"तिन्हें यों समुझाय पुनि महावत को बुलाय के बोला × × ×" (लल्लूलाल जी) राजा शिवप्रसाद ने भी इन दोषों से बचने का प्रयत्न किया था और वे सफल भी हुये थे, परन्तु उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग अधिक रहता था तथा उनकी रचना भी उर्दू ढंग की रहती थी, जैसे—"हुमायूँ के भागने पर इस मुल्क का बादशाह शेरशाह हुआ। कामराँ के काबुल चले जाने पर पंजाब भी आ दबाया। और झेलम पर एक पहाड़ी पर रोहतास उसी का और वैसा ही मज़बूत एक क़िला बनवाया जैसा उसकी जन्मभूमि बिहार में था।"

परन्तु भारतेन्दु ने इस परिष्कृत शैली से उर्दू-फ़ारसी के शब्द हटा कर और शैली को हिंदी व्याकरण का पुट देकर ही ग्रहण किया। पीछे इनमें उनके इस प्रयत्न की विशद विवेचना की है।

संक्षेप में हम भारतेन्दु की शैली पर निश्चयात्मक ढंग से यह कह सकते हैं—

(१) भारतेन्दु की शैली सरल, सरस और सुन्दर है।

(२) वे भावानुकूल शब्दों का प्रयोग करते हैं और भावानुकूल शैली में परिवर्तन भी कर देते हैं।

(३) उनकी शैली में उनके अपने व्यक्तित्व की छाप है—समसामयिकों की भाषा-शैलियों में यह किसी प्रकार मेल नहीं खाती। उसमें कृत्रिमता का कहीं अंश भी नहीं है।

(४) यद्यपि लोक-जीवन में भारतेन्दु निरंकुश हैं, परंतु भाषा का प्रयोग बड़े संयम के साथ, अपने ढंग पर करते हैं।

(५) उनकी शैली सदल मिश्र की शैली के बहुत निकट पड़ती है—'पंडिताऊपन' भी थोड़ा-बहुत मिलता है।

(६) वे बोलचाल के शब्दों के व्यावहारिक रूप का अधिक ध्यान रखते हैं। उनके प्रयुक्त शब्द कान को नहीं खटकते, जैसे भलेमानस, दिया, मुनी, आपुस, लच्छन, जोतसी, आँचल, जोबन, अगनित, अचरज आदि।

(७) कुछ ऐसे प्रयोग हैं जैसे (भई) हुई, करके (कर) कहते हैं (कहलाते हैं), सो (वह), होई (हो ही) इत्यादि, परंतु इनके लिए भारतेन्दु दोषी नहीं ठहरते, क्योंकि अब तक न तो कोई आदर्श ही उपस्थित हुआ था और न भाषा का कोई व्यवस्थित रूप ही था। दूसरी बात यह कि इन प्रयोगों का उनकी रचनाओं के विस्तार में पता नहीं चलता।

(८) उनकी भाषा-शैली में व्याकरण की कुछ भूलें भी है, जैसे श्यामता के लिए श्यामताई, अधीरमना के लिए अधीरजमना, 'कृपा की है' के लिए "कृपा किया है।" उस समय तक व्याकरण-संबंधी नियमों का विचार नहीं हुआ था, अतः वे क्षम्य हैं।

अंत में हम इस प्रकरण को एक संतुलित वक्तव्य से समाप्त करते हैं—"यद्यपि भारतेन्दु जी की साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उसका महत्त्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिंदी भाषा को संजीवनी-शक्ति देकर उसे देशकाल के अनुरूप तथा अनुकूल सामर्थ्ययुक्त बनाने और देशहितैषिता के भावों को अपने देशवासियों के हृदय में उत्पन्न करने में था। लल्लूजी लाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मण-सिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित और सुन्दर ढाँचे में ढालने का श्रेय भारतेन्दु जी को प्राप्त है। उनके समय में ही इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिन्दी-उर्दू-मिश्रित हो या नहीं? राजा शिवप्रसाद जी उर्दू-मिश्रित भाषा के पक्षपाती थे और उर्दू-शैली के पुष्ट पोषक। भारतेन्दु ने इसके विरुद्ध शुद्ध हिंदी का पक्ष लिया और उसको नये साँचे में ढाल कर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा

में माधुर्यगुण की प्रचुरता है तथा वह प्रौढ़ता और परिमार्जितता से सम्पन्न है।' (भारतेन्दु हरिश्चंद्र—श्यामसुन्दरदास)

ऊपर भारतेन्दु की भाषा-शैली के सम्बन्ध में जो लिखा उससे स्पष्ट है कि खड़ी बोली गद्य की भाषा शैली का सम्यक आरम्भ वास्तव में भारतेन्दु से होता है। भारतेन्दु ने प्रांतीय शब्दों और प्रयोगों को एकदम तिलांजलि दे दी। पंडिताऊपन को उन्होंने दूर रखा। उन्होंने संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के झमेले में बीच का मार्ग पकड़ा। उन्होंने इन भाषाओं के इतने शब्द आने दिये जिनसे भाषा में हिंदीपन बना रहता और वह इन भाषाओं से अनभिज्ञ पाठकों को दुरूह न हो जाती। यह सचमुच कठिन काम था जिसमें सफलता का अर्थ था ऐसी भाषा का जन्म जिसकी उर्दू से स्वतंत्र अपनी सत्ता हो। ऐसी भाषा गढ़ने का श्रेय भारतेन्दु को ही मिला। उनके समकालीन लेखकों ने भाषा-संस्कार-सम्बन्धी उनके महत्त्व को स्वीकार कर लिया और उनके अनुकरण में लिखी अपनी भाषा को हरिश्चंदी हिन्दी कहा। आज की खड़ी बोली इसी हरिश्चंदी हिंदी का विकसित रूप है। इसी से भारतेन्दु आधुनिक हिंदी गद्य के पिता और प्रथम शैलीकार माने जाते हैं।

भारतेन्दु ने शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से किया और परवर्ती गद्य-साहित्य पर उनका प्रभाव कम नहीं पड़ा। भाषा क्लिष्ट न हो, इस विषय में वे विशेष सतर्क थे। इसके लिए जहाँ वे शुद्ध भाषा की दृष्टि से शुद्ध हिंदी का प्रयोग करते थे, वहाँ भाव की दृष्टि से अत्यंत प्रचलित भाव ही सामने रखते थे। उनकी शैली भाव के पीछे-पीछे चलती है। भावों के उत्थान-पतन को प्रगट करने में वह अत्यंत सफल हैं। इस गुण को रागात्मकता कहा जा सकता है। भावानुकूल शैली की योजना में उन्नीसवीं शताब्दी का कोई भी लेखक भारतेन्दु की जोड़ का नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य मुख्य गद्यकार लाला श्रीनिवासदास,

प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन हैं। ये सब भारतेन्दु मंडली के लेखक कहे जाते हैं परन्तु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुए भी इन सबका गद्य अनेक रूपों में स्वतंत्र है। इनमें शैलीकार के रूप में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं।

भारतेन्दु मंडली के सदस्यों में सबसे अधिक लोकप्रियता बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र को प्राप्त हुई। जहाँ प्रतापनारायण मिश्र की शैली में भारतेन्दु की सामान्य भाषा-शैली का विकास मिलता है, वहाँ बालकृष्ण भट्ट में उनके गंभीर निबंधों की शैली का विकास मिलेगा। बालकृष्ण भट्ट की शैली में प्रवाहमयता कम नहीं है, परन्तु भाषा की शुद्धता की ओर उनका आग्रह विशेष नहीं है। अंग्रेज़ी, फ़ारसी और उर्दू शब्द हिंदी के साथ गुँथे हुए चलते हैं। प्रतापनारायण मिश्र को कहावतों की धुन है तो इन्हें मुहावरों की। वह समय हिंदी गद्य के जन्म और विकास का प्रारम्भिक युग था, अतः किसी भी लेखक से शैली की एकरूपता की आशा करना व्यर्थ है। शिष्ट, समाहत शब्दों में गंभीर विचारों और भावनाओं का प्रकाशन भट्ट जी की शैली में सफलतापूर्वक हो सका है। प्रतापनारायण मिश्र की तरह 'आँख', 'कान', 'बातचीत' जैसे सामान्य विषयों पर भी उन्होंने लेख लिखे हैं, परंतु उन्हें विशेष सफलता 'कल्पना', 'आत्मनिर्भयता' जैसे उन गंभीर भावात्मक निबंधों में मिली है जिनमें उन्होंने गंभीर विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। हिंदी प्रदीप (१८७८-१९१०) की पुरानी फ़ाइलों में उनकी ३२ वर्षों की साहित्य-साधना सुरक्षित है। उनके किसी-किसी लेख में इतनी सुकुमारता और भावप्रवणता मिलेगी कि आज भी हम उसे श्रेष्ठ गद्यकाव्य के रूप में उपस्थित कर सकेंगे।

प्रतापनारायण मिश्र ने अपने को भारतेन्दु की शैली का अनुवर्ती बताया है, परन्तु भारतेन्दु की शैली का गांभीर्य उनकी शैली में नहीं

है, न उतनी विविधता। वह विशेषतयः विनोदी लेखक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। कानपुर के सामयिक जनजीवन में वे जैसे घुले-मिले थे, वैसे ही उनकी भाषा में जन-व्यवहृत ग्रामीण भाषा, विनोद, कटूक्तियों और चलती कहावतों का प्रयोग मिलेगा। वैसे हास्य और व्यंग के लिये अथवा क्षण भर के मनोरंजन के लिये उनकी शैली बुरी नहीं है। शिष्टता और नागरिकता से वह कोसों दूर है और गंभीरता एवं अध्ययन का उसमें समावेश नहीं हो सका है। मार्मिक हास्य, रोचकता, सुबोधता और आध्यात्मिकता ये गुण उनकी शैली को जनप्रिय बना सके हैं।

यदि शैली का सर्वश्रेष्ठ गुण लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन है तो इस दृष्टि से प्रतापनारायण मिश्र की शैली अद्वितीय है। आज भी उनके निबंध पढ़ कर उनका मौजी प्रेमी व्यक्तित्व आँखों के सामने आ जाता है जो उच्च साहित्यिक गोष्ठियों में भी रस लेता था और लावनीबाज़ों की मंडली में भी। उनकी अकृत्रिम, वाग्छल-समन्वित, हास्यात्मक, मनोरंजक भाषा-शैली में आज निःसन्देह उनका व्यक्तित्व सुरक्षित है। "बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा', 'मरे को मारे शाहेमदार' जैसे निबंधों में उनकी प्रतिनिधि शैली मिलेगी। गंभीर विषयों पर भी उन्होंने लिखा है जैसे 'शिवमूर्ति', 'सोने का डंडा', 'काल', 'स्वार्थ', परन्तु इन निबंधों की शैली में मन की वह मौज नहीं है जो उनकी विशेषता है। विरामादि चिन्हों के अभाव, व्याकरण-सम्बन्धी भूलों और मर्यादा-रहित कल्पना के कारण उनकी शैली आज के साहित्य से बहुत पीछे इतिहास की वस्तु रह गई है।

बीसवीं शताब्दी में भाषा-शैली के अनेक रूप प्रतिष्ठित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों से साहित्यिक उथल-पुथल के साथ एक प्रकार से हिंदू समाज संगठित हो रहा था। वेदों और उपनिषदों की ओर देखने के फलस्वरूप हिंदी-गद्य-शैली का एक रूप

संस्कृत शब्दावली प्रधान हो गया। जैसे जैसे वर्ष बीतते गये, भाषा में तत्समता की मात्रा बढ़ती गई। आर्यसमाज की चुनौती देनेवाली मनोवृत्ति ने उस बलशाली—कभी २ गाली-गलौज पूर्ण—परन्तु बहुधा व्यंगात्मक गद्य शैली को जन्म दिया जिसका सबसे विकसित रूप श्री पद्मसिंह शर्मा में मिलता है। पहले कुछ वर्षों का अधिकांश गद्य-साहित्य मासिक पत्रों में प्रकाशित निबंधों के रूप में हमारे सामने आया। निबंध-रचना के कारण लेखक विभिन्न विषयों की ओर जाते थे। इससे विषयों के अनुरूप शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्द्धन करना पड़ता था। इससे हिंदी की शैलियाँ अधिक विविध और अधिक वैज्ञानिक हो गईं। उनमें सूक्ष्म बातों को साफ़ ढंग से सामने रखने की शक्ति आई। उनकी अनिश्चितता नष्ट हो गई। हिंदी गद्य-शैली के इस विकास में समाचार-पत्रों और मासिक-पत्रों ने विशेष रूप से सहायता दी।

देवकीनंदन और किशोरीलाल गोस्वामी के साथ हिंदी साहित्य में उपन्यासों का युग शुरू हुआ। उपन्यास बोल-चाल की भाषा की ओर झुकता है। इसने उर्दू-मिश्रित उस प्रवाहमयी शैली को विकसित किया जो बाद में 'हिन्दुस्तानी' का आदर्श मानी गई। इस शैली के सबसे प्रधान लेखक प्रेमचंद हैं। हमारी गद्य शैलियों के निर्माण एवं विकास में उपन्यासों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हमारे प्रधान शैलीकार अधिकतर उपन्यासकार या कहानी लेखक हैं। इसका कारण यह है कि कथा के साथ शैली को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये लेखकों ने इस क्षेत्र में अनेक प्रयत्न किये हैं। पहले महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद रवि बाबू की 'गीतांजलि' और बंगला के प्रभाव के कारण दो नई शैलियाँ चल पड़ीं। एक थी भावना-प्रधान, दूसरी काव्यमय। उसी समय असहयोग आन्दोलन का जन्म हुआ जिसने उत्तेजनापूर्ण, चुभते, चुटकी लेते गद्य को जन्म दिया। प्रेमचंद के बाद के कथाकारों ने शैली के अनेक प्रयोग किये। इसका कारण यह था कि कुछ प्रेमचंद

के उपन्यासों की बहिर्मुख प्रवृत्ति के कारण और कुछ अपनी अहंता के कारण इधर के लेखकों की दृष्टि अंतर्मुखी हो गई। पश्चिम के लेखकों के ढंग पर अनेक भावात्मक और मनोवैज्ञानिक शैलियाँ चल पड़ीं। पिछले महायुद्ध के बाद के शैलीकारों में जयशंकर 'प्रसाद', राय कृष्णदास, वियोगीहरि, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र', सूर्यकांत त्रिपाठी (निराला), जैनेन्द्रकुमार जैन और सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन प्रमुख हैं।

शताब्दी के आरंभ के सबसे पहले कलाकार माधवप्रसाद मिश्र हैं। इनके लेखों में मार्मिकता और ओजस्विता की प्रधानता है। वाद-विवाद में उनकी गद्य-शैली सबसे सुन्दर रूप में प्रगट होती है। भाषा में तत्समता की प्रधानता है और गंभीर विवेचन के साथ आवेश और भावुकता का भी मिश्रण हो गया है। 'सुदर्शन' में पर्व-त्यौहारों, उत्सवों, तीर्थस्थानों, यात्रा और राजनीति-सम्बन्धी जो लेख इन्होंने लिखे, उनमें भारतेन्दु की शैली का ही प्रयोग हुआ है। 'धृति' और 'क्षमा' जैसे अमूर्त विषयों पर लिखते समय उनकी शैली अपेक्षाकृत अधिक गंभीर हो गई है।

खड़ी बोली गद्य के विकास के इतिहास में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के बाद सबसे बड़ा नाम पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने भाषा का संस्कार किया और अनेक प्रकार की शैलियों का निर्माण किया। उनकी भाषा-शैली ने शीघ्र ही सामान्य हिंदी भाषा-शैली का रूप ग्रहण कर लिया और बीसवीं शताब्दी के पहले २० वर्षों में निबंधों, विचारों और अनुभूतियों की सर्वश्रेष्ठ भाषा-शैली वही रही।

१९०३ ई० में द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का संपादन अपने हाथ में लिया। उनसे पहले बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बाल-मुकुन्द गुप्त व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग शैलियाँ लेकर चल रहे

थे परन्तु जहाँ भट्टजी की शैली नीरस और गंभीर थी, वहाँ मिश्रजी की शैली अत्यंत चुलबुली थी। उसमें व्यर्थ के लिए बात का बतंगड़ खड़ा किया जाता था और ग्रामीण और प्रांतीय शब्दों की भरमार रहती थी। बालमुकुन्द गुप्त की शैली पर उर्दू शैली की छाप थी। किसी ऐसी शैली का आविष्कार करना था जो जनता की भावनाओं को प्रगट कर सके और सरल एवं रोचक भी हो। द्विवेदी जी का संबंध एक मासिक पत्र से था और उन्हें टिप्पणियों के रूप में पाठकों के लिए मनोरंजक सामग्री देनी पड़ती थी। टिप्पणियों और लेखों में उन्होंने एक विशेष प्रकार की शैली का निर्माण किया जिसमें कहानी कहने का रस आ जाता था और जिसके आकर्षण के कारण पाठक बरबस उसकी ओर खिचता था। पं० रामचंद्र शुक्ल ने उनके लेखों को 'बातों का संग्रह' कहा है। 'सरस्वती' की अनेक टिप्पणियाँ पढ़ते समय आज भी लगता है कि द्विवेदीजी सामने बैठे हुए किसी कठिन विषय को अपनी बातचीत की मनोरंजक शैली में समझा रहे हैं। इस शैली में न वे संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करते हैं, न अरबी-फ़ारसी का। भाषा की सजीवता और स्वाभाविकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता।

जहाँ तक संभव होता, गंभीर निबंधों में भी द्विवेदीजी परिचित और घरेलू वातावरण लाने का प्रयत्न करते। जो कहना होता, उसे बड़ी सतर्कता से, कई बार घुमा-फिरा कर सामने रखते। उन्हें कुछ अधिक तो अवश्य कहना पड़ता, परंतु वे यह निश्चित होते कि पाठक उनकी बातें अवश्य सुनेगा और जो वे कह रहे हैं, वह समझ जायगा। मेघदूत के मंदाकांता छंदों और किरातार्जुनीय जैसे दुर्बोध काव्य को भी वह अत्यंत आकर्षक अनुवाद के रूप में उपस्थित कर सके हैं।

परन्तु बात को पाठक के मन में उतारने के इस प्रयत्न में शैली

का वह पांडित्यपूर्ण मुष्ठरूप चला जाता है जो पं० रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में मिलेगा। न वहाँ गूढ़-गुंफित पदावली है, न एक-एक पंक्ति में विचार भर देने की चेष्टा। एक ही विचार को लेखक अनेक रूपों से, अनेक प्रसंगों से पुष्ट कर पाठक के सामने रखता है। एक ही बात कुछ हेर-फेर के साथ अनेक वाक्यों में उपस्थित होती है तो पाठक को यह जान पड़ता है कि लेखक के पास कहने के लिए अधिक नहीं हैं। परन्तु द्विवेदी जी पहले हिंदी साहित्यिक हैं जिन्होंने लिखते समय पाठकों को महत्त्व दिया और उनका ध्यान रखा। उनका साहित्य भी प्रचारमूलक है। इसी से उनकी गद्य-शैली में छोटे-छोटे तुले हुए वाक्यों का प्रयोग हुआ है और समझाने-बुझाने की व्यास-शैली से काम लिया गया है। जहाँ तक विचारों को जनता तक पहुँचाने का संबंध है, गंभीर निबंधों में भी यह शैली सफल है।

'प्रतिभा' और 'कवि और कविता' जैसे कुछ साहित्यिक निबंधों में द्विवेदीजी अपेक्षाकृत अधिक गंभीर हो गये हैं। इन निबंधों में वही पांडित्यपूर्ण शैली मिलती है जिसका विशेष विकास पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में हुआ है। परन्तु अधिकतः उनकी प्रवृत्ति साहित्यिक विषयों की व्याख्या की ओर नहीं थी। वे अपनी बात का आदेश और ओजपूर्ण वक्तृत्व के ढंग पर कह जाते। परन्तु कहीं-कहीं बीच-बीच में दो-चार वाक्य भावपूर्ण रख देते। प्रांत में शिक्षा की दुर्दशा के संबंध में लिखते हुए वे अत्यंत भावात्मक होकर कहने लगते हैं—"हाय भारत, तेरी भूमि ही ऐसी है (हो गई है?) कि उसपर क़दम रखते ही लोग तेरी भाषा का अनादर करने लगें। इत्यादि।" कहीं-कहीं वह सच्चे भावावेश में आकर तीखे भी बन जाते हैं—"कूप-मंडूक भारत, तुम कब तक अंधकार में पड़े रोते रहोगे! प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पिंजड़े से बाहर निकलने

का साहस नहीं होता ?' द्विवेदीजी को अनेक साहित्यिक आन्दोलनों का नेतृत्व करना पड़ा और अनेक विरोधियों से मोर्चा भी लेना पड़ा। इससे उन्होंने हास्य और व्यंग-मिश्रित मार्मिक, कटाक्षपूर्ण, चोट करने वाली शैली भी विकसित की। विपक्षी उसे पढ़ता तो इतना परास्त हो जाता कि उत्तर ही नहीं सूझता। इस शैली ने उस समय के साहित्य जगत में काफ़ी कटुता भी उत्पन्न की, परंतु साहित्य में उच्छृंखलता के दमन के लिये द्विवेदीजी का यह रौद्र रूप भी आज सुंदर जान पड़ता है।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की गद्य-शैली में हमें पहली बार कलापूर्ण गद्य के दर्शन होते हैं। आचार्य द्विवेदीजी की सफलता का रहस्य उनकी गद्य-शैली ही है। कहीं तर्क-पूर्ण, कहीं ओजपूर्ण, कहीं भाव-पूर्ण, कहीं तथ्य-प्रधान, परंतु सदैव आकर्षक, नितांत सरल यह गद्य-शैली द्विवेदीजी की सबसे बड़ी देन है। कुशल कहानीकार की सारी कला और चतुरता उनकी शैली में है। उपदेश, आलोचना, व्यंग, हास-परिहास—सबके पीछे सामान्य रूप में एक रोचक, सहृदय, निष्कपट व्यक्तित्व छिपा हुआ है, जो बात कहने की कला जानता है और जिसके तर्क और व्यंग की तीव्रता विरोधी सह नहीं सकता। विषय के अनुसार तत्सम शब्दों का न्यूनाधिक प्रयोग रहता है। उर्दू मुहावरों, कहावतों, चुटीली उक्तियों से सजी रहने पर भी द्विवेदीजी की शैली मुख्यतः सरल, घरेलू और सीधी है। उसमें वर्णन शैली का अद्भुत प्रवाह है, हृदय को मुग्ध करने की आकर्षक कला है। वह आधुनिक हिंदी गद्य की पहली कथात्मक शैली है।

द्विवेदीजी की भाषा-शैली के मूल तत्वों को जानने से पहले यह आवश्यक है कि हम भाषा-शैली-संबंधी उनके विचारों से पूर्ण रूप से अवगत हो जायें। ये विचार इधर-उधर बिखरे पड़े हैं और उन्हें एक

केन्द्र पर लाना आवश्यक है। वे लिखते हैं—"हिंदी जिन विदेशी शब्दों को आसानी से ग्रहण कर सकें, उन्हें तुरंत अपने में मिला लेना चाहिये। मैं जब स्वयं 'सरस्वती' में ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगा तब लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। कितने ही लोगों ने यहाँ तक इलज़ाम लगाया कि मैं भाषा को नष्ट कर रहा हूँ। परंतु, सत्य सत्य ही है। अब लोग आप से आप समझ गये।" फिर इसी बात को और अच्छी तरह समझाते हुए 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या १, पृ० ५१) में वह लिखते हैं--"हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जानने वाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रगट हो पर उससे ज्ञान आनंद दान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।" "जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए बाहर के खाद्य-पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बन्द हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव—प्रयत्न करने पर भी—परित्यक्त नहीं हो सकता।" "हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव से, उसने अरबी-फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अँग्रेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा, त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। हमें केवल यह देखते

रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।" यहीं तक समाप्त नहीं हो जाता। उस समय भी वह हिंदी का राष्ट्रभाषा होने की योग्यता को भली भाँति समझते थे। डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं की संख्या १७६ और बोलियों की संख्या ५४४ बताई थी। इस पर विचार करते हुए द्विवेदीजी ने स्पष्ट कर दिया था कि ग्रियर्सन भारत को छिन्न-भिन्न करने वाली शक्तियों पर ही अधिक बल दे रहे हैं। युग-युग से भाषा-क्षेत्र में जो एक महान ऐक्य की शक्ति (हिंदी) काम कर रही है, उन्होंने उसे समझा ही नहीं। वे लिखते हैं—"हाँ, एक बात खटकने वाली ज़रूर है। डाक्टर ग्रियर्सन ने जो ये बड़ी-बड़ी इतनी जिल्दें लिख कर भारतीय भाषाओं का फल प्रकाशित किया है उसके कम से कम एक अध्याय में उन्हें हिंदी या हिंदुस्तानी की व्यापकता पर जुदा विचार करना चाहिए था। उन्हें यह दिखाना चाहिए था कि यद्यपि इस देश में सैकड़ों बोलियाँ या भाषाएँ प्रचलित हैं और यद्यपि उत्पत्ति तथा विकास की दृष्टि से उसके कई भेद हैं तथापि यही भाषा ऐसी है जिसके बोलने वाले सबसे अधिक हैं और जिसे भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रांतों के निवासी भी किसी हद तक समझ सकते हैं। इस दशा में राजकीय निर्वाह और पारस्परिक व्यवहार के लिए यदि हिंदी भारत की प्रधान भाषा मान ली जाय तो इससे देश को अनेक लाभ पहुँच सकते हैं।"

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे कई बातें स्पष्ट हैं—

१—हिंदी में ही राष्ट्र भाषा-संबंधी योग्यता है।

२—हिंदी का एक सुनिश्चित रूप स्थिर होना चाहिये।

(क) वह संस्कृत और अंग्रेज़ी शब्दों से लदी न हो।

(ख) परंतु उसमें उचित मात्रा में विदेशी शब्दों और भावों का संग्रह हो।

(ग) ये विदेशी शब्द मुख्यतः अरबी, फ़ारसी, तुर्की और अंग्रेज़ी भाषाओं के ही होंगे जिनके संपर्क में हिंदी ऐतिहासिक कारणों से आबद्ध हो गई है।

(घ) परंतु इस सम्मिश्रण से हिंदी अपनी विशेषता न खो दे, ऐसा ध्यान रखना होगा।

यह तो हुई भाषा-संबंधी बात। अब शैली पर विचार करना होगा। द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ की प्रस्तावना में द्विवेदीजी की शैली पर विशद रूप से विचार हुआ है। 'अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना हो यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्धि, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है, व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पद-विन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बना कर हमारे सामने उपस्थित करती है। पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनि-मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रगट हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाष्य-भेद को ही शैली समझ लेने की भ्रांत-धारणा फैली हुई है, परन्तु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरम्भ होता तो द्विवेदीजी

की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदीजी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व अनलंकृत और रूक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदीजी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी-कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परन्तु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों की पुष्टि करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी 'लखौरी ईंटें' दृढ़ता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदीजी के छोटे वाक्य भी।"

विषय के अनुरूप द्विवेदीजी की अनेक शैलियाँ हैं परन्तु कुछ विशेष गुण उनकी प्रत्येक शैली में मिलेंगे।

(१) संयम

(२) प्रसाद

(३) ओज

(४) सुलझाव

(५) उदाहरण

(६) सजीवता

एक दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। "कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठा कर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अंग्रेज़ी की शिक्षा में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है? संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृ-भाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते ही हैं उन्हें हिंदी लिखने में शरम आती है। इस मातृ-भाषा द्रोहियों का

ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पारकर इंगलैंड वाले यहाँ आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठा कर यहाँ की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिख कर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़ कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अंग्रेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग़ जलाने दौड़ते हैं।"

"कूप-मंडूक भारत, तुम कब तक अंधकार में पड़े रहोगे? प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही जाग्रत नहीं होता? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पिंजड़े से बाहर निकलने का साहस नहीं होता? क्या तुम्हें अपने पुराने दिनों की कभी याद नहीं आती?" (सरस्वती, अगस्त, १९१४) इस प्रकार की सरल संयत प्रवाहमयी भाषा-शैली प्रेमचंद से पहले के हिंदी साहित्य में सरलता से नहीं मिल सकेगी। वास्तव में हिंदी की जातीय शैली का पहला विकास द्विवेदीजी की भाषा-शैली में ही मिलता है। उनके सामने संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अंग्रेज़ी की गद्य-शैलियाँ थीं—परन्तु हिंदी की कोई सर्वमान्य विकसित शैली नहीं थी। 'संस्कृत की जातीय शैली की विशेषताएँ हैं—भाषा का शाब्दिक इंद्रजाल, अलंकार प्रियता और वर्णन नैपुण्य।' रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने एक लेख 'कादम्बरी का चित्र' में संस्कृत की जातीय शैली की विशेषताओं का दर्शन कराते हैं।

"इसके सिवा संस्कृत-भाषा में ऐसा स्वरवैचित्र्य, ध्वनि की गंभीरता और स्वाभाविक आकर्षण है कि उसका संचालन यदि निपुणता के साथ किया जा सके तो अनेक बाजों का एक ऐसा 'कन्सर्ट' बज उठता है, उसके अंतर्निहित रागिनी में एक ऐसी अनिर्वचनीयता है

कि कविगण उस वाणी की निपुणता के द्वारा विद्वान श्रोताओं को मुग्ध करने का लाभ नहीं छोड़ सकते। इसी से जिस स्थान पर भाषा को संक्षिप्त करके विषय को शीघ्रता के साथ बढ़ाने की आवश्यकता है, वहाँ भी भाषा का प्रलोभन छोड़ना कठिन हो जाता है और केवल शब्दाडंबर रह जाता है। विषय की अपेक्षा शब्द अधिक बहादुरी दिखाने की चेष्टा करते हैं, और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त होती है। मोरपंख के बने ऐसे अनेक अच्छे-अच्छे पंखे हैं जिनसे अच्छी तरह हवा नहीं निकलती, किन्तु हवा करने का उपलक्ष्य मात्र करके केवल शोभा के लिए राजसभाओं में उनका व्यवहार होता है। इसी प्रकार राजसभा में संस्कृत काव्य भी घटना विन्यास के लिए उतना अधिक व्यग्र नहीं करते। केवल उनका शब्दाडंबर, उपमा-कौशल, वर्णन नैपुण्य की प्रत्येक गति में राजसभा को विसमित करता रहता है।" (प्राचीन साहित्य, पृ० ६२-६३)

अतः रवीन्द्रनाथ के अनुसार संस्कृत की गद्य-शैली मोर पंख के समान है जिसमें भाषा के शब्दाडंबर, अलंकार और वर्णन-नैपुण्य की ही प्रधानता है। गोविन्द नारायण मिश्र ने अपनी अपूर्ण पुस्तिका 'कवि और चित्रकार' में संस्कृत गद्य-शैली का ही अनुकरण किया :—

सहज सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभाव से सब का चितचोर सुचारु-सजीव-चित्र-रचना—चतुर-चितेरा और जब देखो तब ही अभिनव सब नवरस-रसीली नित नव-नव भाव बरस रसीली, अनूप-रूप-सरूप-गरबीली, सुजन मन-मोहन-मंत्र की कीली, गमक जयकादि सहज सुहाते चमचमाते अनेक अलंकार-सिंगार-साज-सजीली, छबीली कविता-कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों, का काम ही उस अग-जग-मोहिनी, बला की सबला, सुभाव-सुन्दरी अति कोमला अबला की नवेली, अलबेली, अनोखी छवि को आँखों के आगे परतच्छ खड़ी-सी

दरसा कर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मनों को लुभाना, तरसाना, सरसाना, हरसाना और रिझाना ही है। इत्यादि (गोविंद-ग्रंथावली, पृ० १)

यहाँ भाव से कहीं अधिक महत्त्व भाषा को प्राप्त है और लेखक भाषा को अनुप्रास और यमक आदि आभूषणों से सज्जित करने का अतिशय प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है।

दूसरी ओर बँगला गद्य-शैली की विशेषताएँ हैं- रसात्मकता की बाढ़, कोमल-कांत पदावली, व्यंजनापूर्ण विशेषण, मधुर और सरस वर्णन। उसमें शाब्दिक जाल और अलंकारों की योजना बहुत कम मिलती है। राधिकारमणसिंह ने बँगला गद्य-शैली का सफल अनुकरण किया। 'बिजली' नामक कहानी में वे लिखते हैं।

रुँ झुँ! रुँ झुँ! मेरी आँखें खुल जाती थीं—कान खुल जाते थे। भगवन्! यह सुरीली काकली कहाँ से आ रही है? किस कंठ का यह भूषण है? क्या कोई पंचम सुर से गा रहा है? क्या पृथ्वी की एक-एक कण से बाँसुरी बज रही है? फिर क्या था! बाजा बजने लगा—आकाश से, पाताल से, फूलों से, गुल्मों से, घंटा की धमक से और सरसी के हिल्लोल से वही सुमधुर प्राणप्लावी 'रुँ झुँ' बजने लगी। न जाने इसमें किस विषाद, किस प्रमोद या किस अनुराग का स्वर भरा था; किन्तु एक-एक कल्लोल-लहरी में प्रतीत होता था कि किसी का प्राण थिरक रहा हो, या कोई भाव विह्वल हृदय ढला पड़ता हो। इत्यादि

(गल्प कुसुमावली—पृ० ३०)

यहाँ भाव और रस की प्रधानता है और भाषा का काम लेखक की सरस भावनाओं को कोमल-कांत शब्द और लय में प्रगट करना है।

मराठी गद्य की विशेषता उसकी अलंकारिता है। उसमें उपमा उत्प्रेक्षा और रूपकों की भरमार रहती है। सरलता और मधुरता का

उसमें अभाव-सा रहता है। यथा, 'छत्रसाल' में रामचंद्र वर्मा लिखते हैं—

"रमजान के चौबीसवें चाँद को प्रकाश से सहायता देने के लिए परोपकारी भगवान अंशुमाली पश्चिम दिशा में धीरे-धीरे चमकने लगे। अपने परोपकारी पति का श्रम दूर करने के लिए पश्चिमा सुंदरी विश्रांत गृह के द्वार पर सलज्ज खड़ी थी। पशु-पक्षी आदि अपनी-अपनी भाषाओं में अपने उपकार-कर्ता महाराज का गुणानुवाद गाने और उनसे फिर जल्दी ही लौट आने के लिए प्रार्थना करने लगे। इत्यादि।"

इसमें प्रवाह बहुत ही मंद है और भाषा अलंकारों से बेतरह लदी है। ठीक इसके विपरीत उर्दू भाषा में शीघ्र प्रवाह, एक आकर्षक सरलता और नाज़ व अंदाज़ मिलता है। भाषा में उछल-कूद अधिक है। गंभीरता का कहीं लेशमात्र भी नहीं। उक्ति-वैचित्र्य और अतिशयोक्ति उर्दू की विशेषता है। पद्मसिंह शर्मा की शैली में उर्दू की गद्य-शैली का सुंदर उदाहरण मिलता है। उदाहरण के लिए 'बिहारी का विरह-वर्णन' से एक उद्धरण लीजिये—

ज़रा-सा दिल और इतनी मुसीबतों का सामना! आग की भट्टी, जल की बाढ़ और आँधी का तूफ़ान—इन सब में से बारी-बारी गुज़रना! आग से बचा तो जल बह रहा है। वहाँ से छूटा तो आँधी उड़ा रही है। ऐसे मुक़ाबले से घबड़ा कर ही शायद किसी ने प्रार्थना की है—

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था,
दिल भी यारब! कई दिये होते।

(सरस्वती, अगस्त १६११, पृ० ३८५)

अंग्रेज़ी की गद्य-शैली की विशेषता—भावों की स्पष्ट और सरल व्यंजना और प्रभावशालिता है। सत्यदेव (परिव्राजक) के एक लेख में अँग्रेज़ी गद्य-शैली की छाप मिलती है। यथा—

नर हत्या का पाप भाषा-हत्या के सामने कुछ भी नहीं है, सुंदर भाषा गिरे हुओं को उठाती है, मुर्दों में जान डाल देती है, बुजदिलों को बहादुर बना देती है, आत्मा को योग का रस चखाती है; बुरी भाषा में लिखी पुस्तकें आचार को नष्ट करती हैं और मन में बुरे बीज बोती हैं। भाषा का दुरुपयोग करने वाला मनुष्य समाज का भारी शत्रु है, इत्यादि।

(हिन्दी साहित्य और हमारे काम, सरस्वती, अक्टूबर १६०६, पृ० ४६३)

इतनी प्रकार की शैलियाँ हिंदी पर अपना प्रभाव डाल रही थीं। हिंदी ने अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप अँग्रेज़ी साहित्य की स्पष्ट भावव्यंजकता, बँगला की सरसता और मधुरता, मराठी की गंभीरता और उर्दू गद्य का प्रवाह ग्रहण किया। साथ ही उसने अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभीरता और अतिशयोक्ति मराठी की अलंकारिता। बँगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक-प्रियता और अद्भुत शब्द जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया। हिंदी की जातीय शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचंद की कहानी 'मुक्ति-मार्ग' से लीजिए।

"अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत्त होकर शस्त्र प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह 'बुद्धू' था। 'बुद्धू' कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बच कर निकल आता

था। अंत में मानव दल की विजय हुई, किंतु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती ! इत्यादि

(प्रेम-पचीसी, पृ० १०६-११०)

इस भाषा में गंभीरता के साथ प्रवाह है, भाव-व्यंजकता और स्पष्टता के साथ ही साथ मधुरता और सरसता है, लय और संगीत हैं, सरलता के साथ ही साथ गुरु-गंभीरता है। हिंदी की जातीय शैली में संस्कृत, बँगला, मराठी, उर्दू और अँग्रेज़ी भाषा-शैलियों के सभी गुण मिलते हैं और उनके अवगुणों से वह बिलकुल अछूती है।" (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० १७३-१७७)

इस जातीय हिंदी शैली के निर्माण में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वैसे शैली का जन्म १६वीं शताब्दी में ही हो गया था और बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त उन्नीसवीं शताब्दी के उत्कृष्ट शैलीकारों के रूप में स्मरण किये जायेंगे, परंतु इन सभी कलाकारों में व्यक्तित्व की प्रधानता थी और किसी सामान्य भाषा-शैली के गढ़ने में वे सफल नहीं हो सके थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दस वर्ष और बीसवीं शताब्दी के पहले ५-७ वर्ष भाषा-शैली के क्षेत्र में उच्छृङ्खलता के वर्ष हैं। इसका कारण यह है कि इन वर्षों में बँगला, मराठी, संस्कृत और अंग्रेज़ी से हज़ारों ग्रंथ अनूदित हुए और इन अनुवादों के द्वारा विभाषीय सहस्रों शब्द, प्रयोग और मुहावरे हिंदी में भी प्रचलित हो गये। इसका फल यह हुआ कि विभिन्न प्रदेशों के लेखकों की भाषा-शैली में आकाश-पाताल का अंतर आ गया। जिसे पहले हरिश्चंद्री हिंदी कहा जाता था, उसका तो कोई नामलेवा भी नहीं था।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस परिस्थिति को समझा और

'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने भाषा-संस्कार और जातीय भाषा-शैली निर्माण का काम आगे बढ़ाया। उन्होंने इस काम को उसी जगह से आरम्भ किया जिस जगह से भारतेन्दु उसे छोड़ गये थे। वे अंग्रेज़ी और मराठी शैलियों से अत्यंत निकट से परिचित थे। इसी से उनकी गद्य-शैली में अँग्रेज़ी गद्य-शैली की व्यावहारिकता और मराठी शैली की सूक्ष्मता आ गई, परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद की जातीय हिंदी शैली में महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा-शैली के अनेक तत्त्व हैं। वास्तव में पहली कलात्मक हिंदी गद्य-शैली उन्हीं की है। "विषय के अनुसार उनका शब्द भंडार, उनकी ध्वनि और लय में भी परिवर्तन होता रहता, कभी बड़ी गंभीरता से तत्सम शब्दों का प्रयोग करते, कभी हलकी तबीयत से उर्दू मुहावरों, कहावतों और चुटीली उक्तियों की मार करते, परन्तु सभी स्थानों में उनकी सरलता, घरेलूपन और सीधेपन का परिचय मिलता है।" "उनकी रचना में जो वर्णन-शैली का अद्भुत अपूर्व प्रवाह है, हृदय को आकर्षित और विमुग्ध करने वाली एक कला है, वह द्वितीय उत्थान के लेखकों की सचेतन कला, लय और संगीतपूर्ण भाषा से कहीं अधिक प्रभाव-शालिनी और सुंदर है।"

भाषा की दृष्टि से प्रेमचंद महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी भाषा उनकी इतनी अपनी है कि उसका नाम ही प्रेमचंदी भाषा पड़ गया है। उनकी भाषा चुस्त, मुहावरों से सजी और परुष है। उसमें उर्दू-फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का प्रयोग होता है। पात्रों के अनुसार वे भाषा बदल देते हैं। उनके मुसलमान पात्र कहीं ठेठ उर्दू, कहीं फ़ारसी मिश्रित हिंदी बोलते हैं। उनके पंडित संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं। गाँव का वातावरण उपस्थित करने के लिए वह प्रांतीय और प्रादेशिक शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में लोच है, प्रवाह है और प्रसाद गुण है। प्रेमचंद की देन यही भाषा है जिसे

हिंदू भी समझ सकता है, मुसलमान भी। आज जिस हिंदुस्तानी की बात-चीत हो रही है वह यही प्रेमचंद की भाषा है। नाटक, उपन्यास और कहानी के लिये यह बहुत उपयुक्त रही है।

परंतु स्वयं प्रेमचंद की समस्त रचनाओं में भाषा का रूप एक-सा नहीं है। वह उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती गई है। उनके 'वरदान' और 'गोदान' के कुछ अवतरणों में यह बात सिद्ध हो जायगी—
"रात्रि भली भाँति आर्द्र हो चली थी।" (वरदान, पृ० २१५)
"विरजन उसके गले लिपट गई और अश्रु प्रवाह का आतंक जो अब तक दबी हुई अग्नि की नाईं सुलग रहा था, अकस्मात् ऐसे भड़क उठा मानों किसी ने आग में तेल डाल दिया है।" (वहीं, पृ० ७५)
"कुछ काल और बीता, यौवन काल का उदय हुआ। विरजन ने उसके चित्त पर प्रतापचंद का चित्र खींचना आरंभ किया। उन दिनों इस चर्चा के अतिरिक्त उसे कोई बात अच्छी न लगती थी। निदान उसके हृदय में प्रतापचंद की चेरी बनने की इच्छा उत्पन्न हुई। पड़े-पड़े हृदय में बातें किया करता। रात्रि में जागरण करते मन का मोदक खाती।"

"वरदान" के इन अवतरणों की भाषा में प्रवाह की मात्रा अधिक नहीं है और उससे ठेठ मुहावरे संस्कृत शब्दों से सटा कर रखे हुये मिलते हैं। उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग भी नहीं है। यह लेखक की प्रारंभिक भाषा है—प्रयास स्पष्ट है। प्रेमचंद वर्षों से उर्दू में लिख रहे थे। अब हिंदी में आ रहे हैं तो सतर्क हैं। इसी से उनकी प्रारंभिक रचनाओं में उस उत्कृष्ट "हिन्दुस्तानी" का रूप नहीं मिलता जिसके वे आविष्कर्ता हैं। इन ऊपर के उद्धरणों की भाषा से 'गोदान' की पुष्ट भाषा से मिलाइये—"होरी लाठी कन्धे पर रख कर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुये हृदय में आतंक

भय, कंपन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के संपूर्ण भय और व्रत से अपने पति को अभय दान दे रही थी। उसके अंतः-करण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकल कर होरी को अपने अंदर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुये वह सागर को पार कर रही थी। इन असंयत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी मानों झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा। बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना शक्ति आ गई थी। काना कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या दो आँखों वाले आदमी को हो सकता है ?" (पृ० ३)

इन पंक्तियों में हिंदी की उस जातीय शैली का परिष्कृत और विकसित रूप मिलेगा जो १९०६-७ के आस-पास "सरस्वती" के द्वारा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी को प्रदान किया था। कम पुष्ट भाषा का प्रयोग करके धनिया की हृदय-व्यथा को इस स्पष्टता से चित्रित करना क्या संभव होता ? प्रेमचंद के उपरोक्त उद्धरण की शैली में हम उनके सबसे सुंदर गद्य-काव्य का नमूना पाते हैं। शब्दों के परुष संगठन और शैली की प्रसादमयता और प्रवाह के लिये यह अद्वितीय है।

परंतु इतना कहने भर से ही हम प्रेमचंद की भाषा-विषयक विशेषता को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकते। प्रेमचंद की भाषा और उनकी विभिन्न शैलियों के अध्ययन के लिए हमें उनके साहित्य को कई भागों में बाँटना पड़ेगा। शैलियों की दृष्टि से ये भाग इतने अलग-अलग पड़ते हैं कि इनका एक साथ अध्ययन हास्यास्पद होगा। यह विभाजन इस प्रकार होगा—१. वर्णन, २. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं परिस्थिति-चित्रण, ३. पात्रों की भाषा (कथोपकथन), ४. प्रकृति-वर्णन, ५. मन का तत्त्व-प्रधान वर्णन जिसे Wishful

thinking कहेंगे। चिंतन-प्रधान पात्र जिस प्रकार विचारधारा में बह जाते हैं उनके विचारों को उसी प्रकार धारावाहिक रूप से लिख कर उनकी मनः-चेतना को प्रगट करने वाले अंशों की एक अलग सत्ता है। आगे हम इन सब अंगों की भाषा पर विशदता से विचार करेंगे—

१—**वर्णन**—प्रेमचंद के उपन्यासों में हमें इतने प्रकार के वर्णन मिलते हैं कि यदि नमूने के लिए एक-एक ढंग का वर्णन उपस्थित करें तो एक छोटी पुस्तक ही बन जाय। सच तो यह है कि प्रेमचंद की कथा कहने की कला में वर्णन को प्रमुख स्थान मिला है। उनकी सूक्ष्मता, विविधता, विचित्रता और विस्तार के द्वारा ही वे पाठक के आकर्षण को स्थिर रख सके हैं।

इन वर्णनों की भाषा में फ़ारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है—प्रवाह, भाषा की चित्रांकन-शक्ति अलंकार-निर्वाह आदि के उत्कृष्ट उदाहरण हमें यहीं मिलेंगे। वर्णन करते समय प्रेमचंद अपने संयम को भूल जाते हैं और स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का ध्यान रखे बिना दूर तक बहे चले जाते हैं। 'वरदान' में उनकी नायिका ब्रजरानी कविता करने लगी है। प्रेमचंद इस इतनी-सी बात को इस प्रकार लिखते हैं—"जब से ब्रजरानी का काव्यचंद उदय हुआ, तभी से उसके यहाँ सदैव महिलाओं का जमघट लगा रहता था। नगर में स्त्रियों की कई सभाएँ थीं। उनके सम्बन्ध का सारा भार उसी को उठाना पड़ता था। × × राजा धर्मसिंह ने उसकी कविताओं का सर्वांग-सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया था। इस संग्रह ने उसके काव्य-चमत्कार का डंका बजा दिया था। भारतवर्ष को कौन कहे, यूरोप और अमेरिका के प्रतिष्ठित कवियों ने भी उसे उसकी काव्य-मनोहरता पर धन्यवाद दिया था। भारतवर्ष में एकाध ही कोई ऐसा रसिक मनुष्य रहा होगा, जिसका पुस्तकालय

उसकी पुस्तक से सुशोभित न होगा।" यह वर्णन स्पष्टतयः अत्युक्ति-प्रधान है—वास्तव में न अभी हमारे यहाँ ऐसी कवि-यित्रियों ने जन्म लिया है, कि जिनका डंका विदेशों में भी बजे, न हमारे जन-समाज में ही इतनी शिक्षा एवं गुणग्राहकता है। इस तरह के बे-लगाम वर्णन प्रेमचंद के उपन्यासों में भरे पड़े हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से वे कितने ही सुन्दर हों, परन्तु वे उपन्यास को यथार्थ से अलग कर "रोमांस" की पंक्ति में डाल देते हैं। कर्मभूमि में अमर महंत आशारामगिरि के मंदिर में प्रवेश करता है—

× × × बरामदे के पीछे, कमरों में खाद्य-सामग्री भरी हुई थी ऐसा मालूम होता था, अनाज, शाक, भाजी, मेवे, फल, मिठाई की मंडियाँ हैं। एक पूरा कमरा तो केवल परवलों से भरा हुआ था। इस मौसम में परवल कितने महँगे होते हैं, पर यहाँ वह भूसे की तरह भरा हुआ था। × × × इस मौसम में यहाँ बीसों झाबे अंगूर के भरे थे × × एक लम्बी कतार दर्ज़ियों की थी × × एक क़तार सुनारों की थी × × एक पूरा कमरा इत्र और तेल और अगर-बत्तियों से भरा हुआ था × × कोई पचीस-तीस हाथी आँगन में बँधे थे, कोई इतना बड़ा कि पूरा पहाड़, कोई इतना छोटा जैसे भैंसे × × पाँच सौ घोड़े से कम न थे, हरेक जाति के × × चार-पाँच सौ गायें-भैंसें थीं—क्योंकि ठाकुरजी के स्नान के लिए प्रतिदिन तीन बार पाँच-पाँच मन दूध की आवश्यकता पड़ती थी, भण्डार के लिए अलग (कर्मभूमि, पृ० ४०४, ४०५, ४०६)। ऐसे वर्णनों में सहसा विश्वास नहीं होता और जी उबा डालने वाले विस्तार से उपन्यास के चरित्र-चित्रण और घटनाचक्र की गति शिथिल हो जाती है। पाठक की दृष्टि एक अवांतर विषय में खो जाती है। इस प्रकार के अनेक वर्णन प्रेमचंद के उपन्यासों में हैं और वे सामयिक समाचार-पत्रों के विवरणों के विस्तार और असंयम को भी मात कर देते हैं।

इन वर्णनों के विपरीत कुछ वर्णन हैं जो चित्रात्मक वर्णन शैली के अंतर्गत आते हैं। ऐश्वर्य और वैभव का वातावरण उपस्थित करने में इसी शैली से काम लिया जाता है। रानी देवप्रिया के झूलेघर का वर्णन इसी प्रकार का चित्र-प्रधान वर्णन है।

"वह एक विशाल भवन था बहुत ऊँचा और इतना लंबा-चौड़ा कि झूले पर बैठ कर खूब पेंग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था पर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था, किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ था। पौदों, झाड़ियों और लताओं ने उसे यमुना तट का कुंज-सा बना दिया था। कई हिरन और मोर इधर उधर विचरा करते थे। × × × पानी का रिमझिम बरसना, ऊपर की हलकी-फुलकी फुहारों का पड़ना, हौज़ में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना, किसी उपवन की शोभा दरसाता था (कायाकल्प, पृ० ८५)। परंतु अन्य स्थानों पर प्रेमचन्द के वर्णन उनके ग्रंथ को बड़ा बल देते हैं। उपद्रवों के वर्णन करने में तो वे अद्वितीय हैं—रंगभूमि और कर्मभूमि में उन्होंने उत्तेजित भीड़ों के अत्यन्त विशद, सुन्दर और यथार्थ वर्णन किये हैं जो आगे के इतिहास के सामने जन-आन्दोलनों के सामूहिक रूप को भली भाँति प्रगट कर सकेंगे। परन्तु जहाँ उनका कार्यक्षेत्र इतना बड़ा नहीं है वहाँ भी जनता की क्षण-क्षण बदलती मनोभावना का अच्छा चित्रण कर सके हैं × × ×। "इतने में लोगों ने शामियाने पर पत्थर फेंकना शुरू किया। लाला बैजनाथ उठ कर छोलदारी में भागे। कुछ लोग उपद्रवकारियों को गालियाँ देने लगे। एक हलचल सी मच गई। कोई इधर भगता है, कोई उधर; कोई गाली बकता था, कोई मार-पीट पर उतारू था। अकस्मात् एक दीर्घकाय पुरुष सिर मुड़ाए, भस्म रमाए, हाथ में त्रिशूल लिये आकर महफिल में खड़ा हो गया। उनके लाल नेत्र दीपक के समान जल

रहे थे और मुखमंडल में प्रतिभा की ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी। महफ़िल में सन्नाटा छा गया। सब लोग आँखें फाड़-फाड़कर महात्मा की ओर ताकने लगे। यह कौन साधु है? कहाँ से आया है? (सेवासदन पृ० २००) इसमें पहले भीड़ की उत्तेजना और उथल-पुथल का वर्णन है और फिर एक साधु का चित्र खड़ा किया गया है। थोड़े से चुने शब्दों में प्रेमचन्द भीड़ की उत्तेजना और साधु के अलौकिक व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट कर सके हैं। इनके जोड़ का वर्णन सम-सामयिक उपन्यास-कला में मिलना कठिन है। प्रसादपूर्ण, प्रवाहमय वर्णन को आगे बढ़ाते हुए प्रेमचन्द 'दीपक के समान' जलते हुए नेत्र और "प्रतिभा की ज्योति" से प्रदीप्त मुखमंडल को सामने लाकर काव्य-मय परिणति में वर्णन को समाप्त करते हैं। 'गोदान' के वर्णनों में प्रेमचंद के सब वर्णनों की विशेषताएँ पूर्ण विकसित दशा में मिलती हैं:—

"होरी ने रुपये लिए और अँगोछे के कोर में बाँधे। प्रसन्नमुख आकर दारोगा की ओर चला।

सहसा धनिया झपट कर आगे आई और अँगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली। गाँठ पक्की न थी। झटका पाते ही खुल गई और सारे रुपये ज़मीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुफकार कर बोली × × × होरी खून का घूँट पीकर रह गया। सारा समूह-जैसे थर्रा उठा।" (पृ० १७३) इस अवतरण में काव्य-प्रधान वाक्यांश महत्त्वपूर्ण हैं। ध्यान से पढ़ने पर पूरे अवतरण में उनका आपेक्षिक महत्त्व प्रगट हो सकेगा। अवतरण में होरी के मनोभाव का भी चित्र है। "प्रसन्नमुख" होरी "खून का घूँट" पीकर रह गया। इन चुने हुए शब्दों से होरी की मनोस्थिति स्पष्ट हो जाती है। यही नहीं, होरी की चाल भी स्पष्ट है। जब वह रुपये लेकर जा रहा है तो वह धीमे-धीमे चल रहा है। इसके सामने

धनिया की तेजी 'सहसा' प्रगट हो जाती है। बाद की परिस्थिति (रुपये बिखर जाने) का सकारण स्पष्ट चित्रण उपस्थित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के अवतरण में एक गतिप्रधान चित्र उपस्थित किया गया है और साथ ही मानसिक संघर्षों और प्रतिक्रियाओं की भी सांकेतिक अभिव्यंजना है। यदि हम प्रेमचंद के वर्णनों का ग्रंथों के कालक्रम के अनुसार अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि वे किस प्रकार बराबर छोटे और संश्लिष्ट होते गये हैं। यह विकास का क्रम सेवासदन से गोदान तक बराबर चला गया है। इस प्रसंग को हम गोदान का एक उत्कृष्ट चित्र देकर समाप्त करते हैं। चित्र का संबंध होरी के कुटुम्ब से है—

"होरी अपने गाँव के समीप पहुँचा, तो देखा, अभी तक गोबर खेत में ऊख गोड़ रहा है और दोनों लड़कियाँ भी उसके साथ काम कर रही हैं। लू चल रही थी, बगूले उठ रहे थे, भूतल धधक रहा था जैसे प्रकृति ने वायु में आग घोल दी हो। ये सब अभी तक खेत में क्यों हैं? क्या काम के पीछे सब जान देने पर तुले हैं? वह खेत की ओर चला और दूर ही से चिल्ला कर बोला—आता क्यों नहीं गोबर, क्या काम ही करता रहेगा? दोपहर ढल गया, कुछ सूझता है कि नहीं?

उसे देखते ही तीनों ने कुदालें उठा लीं और उसके साथ हो लिये। गोबर साँवला, लम्बा, एकहरा युवक था जिसे इस काम से रुचि न मालूम होती थी। प्रसन्नता की जगह मुख पर असंतोष और विद्रोह था। वह इसलिए काम में लगा हुआ था कि वह दिखाना चाहता था, उसे खाने-पीने को कोई फ़िक्र नहीं है। बड़ी लड़की सोना लज्जाशील कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़कर कमर में बाँधे हुए थी उसके हलके शरीर पर कुछ लदी हुई-सी थी और उसे प्रौढ़ता की

गरिमा दे रही थी। छोटा रूपा पाँच छः साल का छोकरा था, 'मैली, सिर पर बालों का एक घोंसला-सा बना हुआ। एक लँगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही ढाठ और रोनी।

रूपा ने होरी की टाँगों से लिपट कर कहा—काका ! देखो, मैंने एक ढेला भी नहीं छोड़ा। बहन कहती है, जा पेड़-तले बैठ। ढेले न तोड़े जायँगे, काका, तो मिट्टी कैसे बराबर होगी।

होरी ने उसे गोद में उठाकर प्यार करते हुए कहा—'तूने बहुत अच्छा किया, बेटा। चलो, घर चलें।' (पृ० १६)

इस वर्णन में प्रकृति की कठोर-वीथिका देकर प्रेमचंद ने एक कृषक-गृह के ममता और विद्रोह को एक साथ प्रगट किया है। 'गोदान' में इस प्रकार के कितने ही उत्तम संश्लिष्ट चित्र मिलेंगे। इनके लिए हिंदी साहित्य सदैव उनका आभारी रहेगा।

जैसा ऊपर के कुछ अवतरणों से प्रकट होगा इन अवतरणों की भाषा-शैली तत्सम-प्रधान शब्दावली की ओर अधिक ढलती है। काव्य-कला का पुट भी मिलता है, परंतु सविस्तार पर्यवेक्षण और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के भी उदाहरण मिलते हैं। इन सब वर्णनों में, चाहे वे दो-चार पंक्तियों में हों, चाहे कई पृष्ठों में, प्रेमचंद चित्र की सारी रेखाओं को स्पष्ट कर देते हैं—अधिकतः विस्तार के साथ, कभी-कभी संकेत रूप में—और पाठकों की बुद्धि पर कुछ भी नहीं छोड़ते। इस प्रकार वे पाठक की तरफ से अधिक चेष्टा नहीं मानते, इसी से पाठक उन्हें सदैव अपने आगे-आगे पाता है। प्रेमचंद की वर्णन-शैली उन्हें कहीं भी अस्पष्ट और भ्रामक नहीं होने देती।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं परिस्थिति-चित्रण में प्रेमचंद मनोविज्ञान के पंडित हैं। उनका मनोविज्ञान भाषा के द्वारा बड़े सुन्दर रूप में विकसित हुआ है। उनकी पहली रचनाओं में ही हम

उन्हें कई पृष्ठों तक पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित करते हुये पाते हैं—

"माधवी उठी, परंतु उसका मन बैठा जाता था, जैसे मेघों की काली घटायें उठती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि सब जल-थल एक हो जायगा परंतु पछुवा वायु चलने के कारण सारी घटा काई की भाँति फट जाती है। उसी प्रकार इस समय माधवी की गति हो रही थी।" (वरदान, पृ० २१४)

ऊपर के चित्रण में माधवी का मनः-संघर्ष किस चतुरता के साथ 'उदाहरण अलंकार' में सजा कर प्रगट किया है। यदि इसी बात को सीधी अनलंकृत भाषा में कहना पड़ता तो निस्सन्देह इससे कहीं अधिक वाक्य लिखने पड़ते। प्रारम्भिक रचनाओं में ही इस प्रकार की प्रौढ़ मनोविश्लेषक भाषा-शैली के पीछे प्रेमचंद का उर्दू का पिछला लिखा सारा साहित्य छिपा है। सुदामा की पुत्र-विषयक चिंता प्रेमचंद एक प्रकृति चित्र (Natural Imagery) से प्रगट करते हैं—"जो अमोल जल-वायु के प्रखर झकोरों से बचाया जाता था, जिस पर सूर्य की प्रचंड किरणें न पड़ने पाती थीं, जो स्नेह-सुधा में अभिसिंचित रहता था, क्या वह आज इस जलती हुई धूप और आग की लपट में मुरझायगा ?"

परंतु बाद की रचनाओं में प्रेमचन्द उत्तरोत्तर इस 'समास-पद्धति' को छोड़ते गये हैं—यद्यपि कहानियों में आवश्यकतानुसार इसी का प्रयोग बराबर मिलता है। उपन्यासों में उन्होंने पात्रों की मन की उथल-पुथल को विश्लेषणात्मक रूप से लिखा है। यहाँ भाषा चिंता से भारी हो जाती है और उसमें नैतिक तत्त्व, हृदयोद्गार, प्रलाप, चिंता—इतनी बहुत प्रवृत्तियाँ उलझी-उलझी चलती हैं कि पाठक इस विस्तृत मनः-विश्लेषण से ऊब कर आगे बढ़ना चाहता है। यहाँ हम उनकी इस शैली के दो अवतरण देंगे। दोनों अवतरण

ऐसे पात्रों से लिए गए हैं जो आत्महत्या करने जा रहे हैं।" दोनों "प्रेमाश्रम" से लिये गये हैं। "ज्ञानशंकर सोचते चले जाते थे, क्या इसी उद्देश्य के लिए मैंने अपना जीवन समर्पण किया? क्या अपनी नाव इसी लिए बोझी थी कि वह जलमग्न हो जाय?

हा वैभव-लालसा! तेरी बलिवेदी पर मैंने क्या अपना धर्म, अपनी आत्मा तक भेंट कर दी! हा! तेरे भाड़ में मैंने क्या नहीं झोंका? अपना मन, वचन, कर्म, सब कुछ आहुति कर दी। क्या इसीलिए कि कालिमा के सिवा और कुछ हाथ न लगे?

मायाशंकर का कसूर नहीं, प्रेमशंकर का दोष नहीं, यह सब मेरे प्रारब्ध की क्रूरलीला है। मैं समझता था मैं स्वयं अपना विधाता हूँ। विद्वानों ने भी ऐसा ही कहा है, पर आज मालूम हुआ कि मैं इसके हाथों का खिलौना था। उसके इशारों पर नाचने वाली कठपुतली था। जैसे बिल्ली चूहे को खिलाती है, जैसे मछुआ मछली को खिलाता है, उसी भाँति इसने मुझे अब तक खिलाया। कभी पंजे में धीरे से पकड़ लेता था, कभी छोड़ देता था, ज़रा देर के लिये उसके पंजे से छूट कर मैं सोचता था, उस पर विजय पाई, पर आज उस खेल का अंत हो गया, 'बिल्ली' ने गर्दन दबा दी, मछुए ने बंसी खींच ली। मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है। भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर!

जो तिमंज़ला भवन मैंने एक युग में अविश्रांत उद्योग से खड़ा किया, वह क्षण मात्र में इस भाँति भूमिस्थ हो गया, मानो उसका अस्तित्व न था, उसका चिह्न तक न दिखाई देता। क्या वह विशाल अट्टालिका भावी की केवल माया-रचना थी?

हाय! जीवन कितना निरर्थक सिद्ध हुआ। विश्वलिप्सा, तूने कहीं का न रखा। मैं आँख बन्द करके तेरे पीछे-पीछे चला और तूने मुझे इस घातक भँवर में डाल दिया।

मैं अब किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। सम्पत्ति, मान, अधिकार किसी का शोक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रह सकता है—बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त रहने में ही है। शोक यह है कि अल्पांश में भी इस यश का भागी नहीं बन सकता। लोग इसे मेरे विषय-प्रेम की यंत्रणा समझेंगे—कहेंगे, बेटे ने बाप का कैसा मानमर्दन किया, कैसी फटकार बताई। यह व्यंग, यह अपमान कौन सहेगा? हा! मुझे पहले से इस अंत का ज्ञान हो जाता, तो आज मैं पूज्य समझा जाता, त्यागी पुत्र का धर्मज्ञ पिता कहलाने का गौरव प्राप्त करता। प्रारब्ध ने कैसे गुप्ताघात किया! अब क्यों ज़िंदा रहूँ? इस लिए कि तू मेरी दुर्गति और उपहास पर खुश हो मेरी प्राण पीड़ा पर तालियाँ बजाये। नहीं, अभी इतना लज्जाहीन, इतना बेहया नहीं हूँ। हा विद्या! मैंने तेरे साथ कितना अत्याचार किया। तू सती थी, मैंने तुझे पैरों-तले रौंदा। मेरी बुद्धि कितनी भ्रष्ट हो गई थी। देवी, इस पतित आत्मा पर दया कर।

इन्हीं दुखमय भावों में डूबे हुये ज्ञानशंकर नदी के किनारे जा पहुँचे। घाटी पर इधर-उधर सांड़ बैठे हुए थे। नदी का मलिन मध्यम स्वर नीरवता को और भी नीरव बना रहा था।

ज्ञानशंकर ने नदी को कातर नेत्रों से देखा। उनका शरीर काँप उठा। वह रोने लगे। उनका दुःख नदी से कहीं अपार था।

जीवन की घटनायें सिनेमा चित्रों के सदृश उनके सामने मूर्तिमान हो गईं। उनकी कुटिलतायें आकाश के तारागण से भी उज्ज्वल थीं। उनके मन ने प्रश्न किया, क्या मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं है?

नैराश्य ने कहा, नहीं कोई नहीं। वह घाट के एक पीलपाये पर जा खड़े हुये। दोनों हाथ तौले, जैसे चिड़िया पर तौलती है, पर पैर न उठ सके।

मन ने कहा, तुम भी प्रेमाश्रम क्यों नहीं चले जाते ? ग्लानि ने जवाब दिया, कौन मुँह लेकर जाऊँ ? मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे, हाय ! मैं जबरन मारा जा रहा हूँ । यह सोच कर ज्ञान-शंकर ज़ोर से रो उठे । आँसू की झड़ी लग गई । शोक और भी अथाह हो गया । चित्त की समस्त वृत्तियाँ इस अथाह शोक में निमग्न हो गईं । धरती और आकाश, जल और थल सब इसी शोक-सागर में समा गये ।

वह एक अचेत शून्य दशा में उठे और गंगा में कूद पड़े । शीतल जल ने हृदय-दाह को शांत कर दिया ।" (पृ० ६३८-६४१)

मनोहर की आत्मग्लानि को प्रेमचन्द इतने काव्यात्मक ढंग से चित्रित नहीं करते—कारण कि मनोहर उस श्रेणी का ही आदमी नहीं है जिस श्रेणी के ज्ञानशंकर हैं । उसकी शिक्षा-दीक्षा इतने ऊँचे तर्क-वितर्कों तक उसे नहीं उठा सकती । अतः वह विचार और भाषा के क्षेत्र में नीचे उतरकर, परंतु फिर भी इसी विस्तार के साथ, मनोहर की हृदय-व्यथा का चित्रण कर रहे हैं—'आज वह शब्द उसके कानों में गूँज रहे थे, जो अब तक केवल हृदय में ही सुनाई देते थे—तुम्हारे कारण सारा गाँव मिटियामेट हो गया, तुमने सारे गाँव को चौपट कर दिया । हा, यह कलंक मेरे माथे पर सदा के लिए लग गया, अब यह दाग कभी न छूटेगा । जो अभी बालक हैं, वे मुझे गालियाँ दे रहे होंगे । उनके बच्चे मुझे गाँव का द्रोही समझेंगे । जब मरदों के ये विचार हैं, जो सब बातें जानते हैं, जिन्हें भली-भाँति मालूम है कि मैंने गाँव को बचाने के लिए अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखी और जो यह अंधेर हो रहा है यह समय का फेर है, तो भला स्त्रियाँ क्या कहती होंगी ! बेचारी विलासी गाँव में किसी को मुँह न दिखाती सकती होगी । उसका घर से निकलना मुश्किल हो गया होगा, और क्यों न

कहें ? उसके सिर पर बीत रही है तो कहेगा कौन ? अभी तो अगहनी घर से खाने को हो जायगा, लेकिन खेत तो बोये न गये होंगे, चैत में जब एक दाना भी न उपजेगा, बाल-बच्चे दाने-दाने को रोयेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी ? मालूम होता है, इस कंबल में खटमल हो गये हैं, नोचे डालते हैं और यह रोना साल-दो-साल का नहीं है, कहीं सब काले पानी भेज दिये गये, तो जन्म भर का रोना है। कादिर मियाँ का लड़का घर को सँभाल लेगा; लेकिन और सभी मिट्टी में मिल जायेंगे और यह सब मेरी करनी का फल है।

सोचते-सोचते मनोहर को झपकी आगई। उसने स्वप्न देखा कि एक चौड़े मैदान में हज़ारों आदमी जमा हैं, फाँसी खड़ी है और मुझे फाँसी पर चढ़ाया जा रहा है। हज़ारों आँखें मेरी ओर घृणा की दृष्टि से ताक रही हैं। चारों तरफ से यही ध्वनि आ रही है, इसी ने सारे गाँव को चौपट किया। फिर उसे ऐसी भावना हुई कि मैं मर गया हूँ और कितने ही भूत-पिशाच मुझे चारों ओर घेरे हुए हैं और कह रहे हैं इसी ने हमें दाने-दाने को तरसा कर मार डाला, यही पापी है, इसे पकड़ कर आग में झोंक दो। मनोहर की हालत ख़राब हो रही थी। उसे चारों तरफ़ अपने कर्मों का परिणाम ही दिखलाई पड़ रहा था। पिशाचों की भयानक शकलें उसे और भी भयभीत करने लगीं। मनोहर के मुख से सहसा एक चीख़ निकल गई, आँखें खुल गईं, कमरे में ख़ूब अंधेरा था, लेकिन जागने पर भी वही पैशाचिक, भयंकर मूर्तियाँ उसके चारों तरफ मँडराती हुई जान पड़ती थीं। मनोहर की छाती बड़े बेग से धड़क रही थी, जी चाहता था, बाहर निकल भागूँ, किन्तु द्वार बन्द थे।

अकस्मात् मनोहर के मन में यह विचार अंकुरित हुआ—क्या मैं यही सब कौतुक देखने और सुनने के लिए जीऊँ ? सारा गाँव,

सारा देश मुझसे घृणा कर रहा है। बलराज भी मन में अनेक गालियाँ दे रहा होगा। उसने उसे कितना समझाया लेकिन मैंने एक न मानी। लोग कहते होंगे, सारे गाँव को बंधवा कर अब मुस्तंडा बना हुआ है। इसे तनिक भी लज्जा नहीं, सिर पटक कर मर क्यों नहीं जाता? बलराज पर भी चारों ओर से बौछारें पड़ती होंगी, सुन-सुनकर कलेजा फटता होगा। अरे!—भगवान! यह कैसा उजाला है। नहीं, उजाला नहीं है। किसी पिशाच की लाल लाल आँखें हैं, मेरी ही तरफ लपकी आ रही हैं। या नारायण! क्या करूँ"—इत्यादि (पृ० ३६३-६५)

"श्रद्धा इस समय अपने द्वार पर इस भाँति खड़ी थी जैसे कोई पथिक रास्ता भूल गया हो। उसका हृदय आनन्द से नहीं, एक अव्यक्त भय से काँप रहा था। यह शुभ दिन देखने के लिए उसने कितनी तपस्या की थी! यह आकांक्षा उसके अन्धकारमय जीवन का दीपक, उसकी डूबती हुई नौका की लंगर थी। महीने के तीस दिन और दिन के चौबीस घंटे यही मनोहर स्वप्न देखने में कटते थे। विडम्बना यह थी कि वे आकांक्षाएँ और कामनाएँ पूरी होने के लिए नहीं केवल तड़पाने के लिए थीं। वह दाह और संताप शांति का इच्छुक न था। श्रद्धा के लिए प्रेमशंकर केवल एक कल्पना थे। इसी कल्पना पर वह प्राणार्पण करती थी। उसकी भक्ति केवल उनकी स्मृति पर थी, जो अत्यंत मनोरम, भावमय और अनुरागपूर्ण थी। उनकी उपस्थिति ने इस सुखद कल्पना और मधुर स्मृति का अंत कर दिया। वह जो उनकी याद पर जान देती थी अब उनकी सत्ता से भयभीत थी, क्योंकि वह कल्पना धर्म और सतीत्व की पोषक थी और यह सत्ता उनकी घातक। श्रद्धा को सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था। परंपरागत बन्धनों को तोड़ने के लिए जिस विचार-स्वातंत्र्य और दिव्य ज्ञान की ज़रूरत है

उससे वह रहित थी। वह एक साधारण हिन्दू अबला थी। वह अपने प्राणों से अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा का सहन करना उसके लिए असंभव था। जब से उसने सुना था कि प्रेमशंकर घर पर आ रहे हैं, उसकी दशा उस अपराधी की-सी हो रही थी जिसके सिर पर नंगी तलवार लटक रही है।" (प्रेमाश्रम, पृ० १७०-७२)

"विद्या की आँखों में आँसू की बड़ी बड़ी बूँदें दिखाई दीं, जैसे मटर की फली में दाने होते हैं। बोली, बहिन तब तो नाव डूब गई। जो कुछ होना था हो चुका। अब सारी स्थिति समझ में आ गई। इस धूर्त ने इसीलिये यह जाल फैलाया था, इसीलिए इसने यह भेष रचा था, इसी नियत से इसने गायत्री की गुलामी की थी। मैं पहिले ही डरती थी, कितना समझाया, कितना मना किया, पर इसने मेरी एक न सुनी। अब मालूम हुआ इसके मन में क्या ठनी थी। आज सात साल से यह इसी धुन में पड़ा हुआ है। अभी तक मैं यही समझती थी कि इसे गायत्री के रंग रूप, बनाव चुनाव, बातचीत ने मोहित कर लिया है। वह निंद्यकर्म होने पर भी घृणा के योग्य नहीं है। जो प्राणी प्रेम कर सकता है, वह धर्म, दया, विनय आदि सद्-गुणों से शून्य नहीं हो सकता। प्रेम की ज्योति उसके हृदय को प्रकाशित करती रहती हैं। लेकिन जो प्राणी प्रेम का स्वाँग भर कर उससे अपना कुटिल अर्थ सिद्ध करता है, जो टट्टी की आड़ में शिकार खेलता है उससे ज़्यादा नीच नराधम कोई हो ही नहीं सकता। वह उस डाकू से भी गया बीता है जो धन के लिए लोगों के प्राण हर लेता है। वह प्रेम जैसी पवित्र वस्तु का अपमान करता है। उसका पाप अक्षम्य है। मैं बेचारी गायत्री को अब भी निर्दोष समझती हूँ। बहिन, अब इस कुल का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं है। जहाँ इतना अधर्म, इतना पाप, इतना छल-कपट हो वहाँ कल्याण कैसे हो

सकता है ? अब मुझे पिताजी की चेतावनी याद आ रही है।" (वही, पृ० ५१४)

(४) प्रकृतिवर्णन

प्रेमचंद के प्रकृतिवर्णन भाषा के जगमगाते हुए हीरे हैं। ये हीरे उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों में बिखरे हुए मिलेंगे। उपयोगितावादी प्रेमचंद बिना मतलब प्रकृति चित्र उपस्थित नहीं करते, जैसी परिस्थिति हम 'हृदयेश' के उपन्यासों में पाते हैं। जहाँ पिछले खेवे के उपन्यासकार प्रकृति को कादम्बरी के भीतर से देखते थे या बंगला उपन्यासों के ढंग पर उस पर नायक-नयिका के सुख-दुख का आरोपण कर उसे विकृत बना देते थे, वहाँ प्रकृति के प्रेमी प्रेमचन्द ने प्रकृति को लेकर न शब्द बर्बाद किये हैं, न व्यर्थ के बतंगड़ खड़े किये हैं। ऊहपोह प्राकृतिक वर्णन से उन्हें चिढ़ थी। वे 'प्रसाद' की भाँति प्रकृति को रोमांस के भीतर से नहीं देखते थे। परंतु उनका प्रकृति-प्रेम उनके प्रत्येक वर्णन से फूटा पड़ता है। गाँव की प्रकृति का ऐसा सुन्दर वर्णन तो उसके सिवा कहीं मिलेगा ही नहीं। अन्य उपन्यासकारों की दृष्टि शहर की चहारदीवारी से बाहर हो नहीं जा पाती।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रेमचन्द प्रकृति का निरर्थक वर्णन नहीं करते—वे उसे वीथिका के रूप से देखते हैं। "अमावस की रात थी। आँखों का होना न-होना बराबर था। तारागण भी बादलों में मुँह छिपाये हुए थे। अंधकार ने जल और बालू, पृथ्वी और आकाश को समान कर दिया था। केवल जल की मधुर ध्वनि गङ्गा का पता देती थी। ऐसा सन्नाटा छाया हुआ है कि जलनाद भी उसमें विमग्न हो जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वी अभी शून्य के गर्भ में पड़ी हुई है।" (प्रेमाश्रम, पृ० ५८५) यह वर्णन उतना वीथिका के

रूप में नहीं है जितना 'स्वांतः सुखाय' या कहिये 'प्रकृति प्रेम के स्वतः अनुभव' के लिये। यद्यपि प्रेमचन्द के अधिकांश प्रकृति चित्र भूमिका स्वरूप ही हमारे सामने आये हैं जैसे "जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकल कर आकाश पर छाई हुई लालिमा को अपने रजत प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गरमी आने लगी थी। दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम राम करते और सम्मान-भाव से चिलम पीने का नियन्त्रण देते थे पर होरी को इतना अवकाश कहाँ था!" (गोदान, पृ० ४)

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंतनगर यों सो रहा है जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें प्रेमोद्‌गार से विकल, उछलती, मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हें से मुख में न समाकर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण किरणों में नहाकर माता का स्नेह-सुन्दर मुख निखर गया है और बालक भी, अंचल से मुँह निकालकर, माता के स्नेह-पल्लवित मुख की ओर देखता है, हुमुकता है और मुसकुराता है, पर माता बारबार उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाय" (रंगभूमि, पृ० ४५७)।

पहले वर्णन में किसी प्रकार का अलंकार नहीं, वस्तु-स्थिति जैसी है, सामने है। दूसरे अवतरण में 'रूपक' का आश्रय लेकर एक अत्यंत सुन्दर काव्य चित्र उपस्थित किया जा रहा है। हमारे सारे पिछले काव्य में प्रकृति को अलंकारों और रूढ़ि-विधानों के भीतर से देखा गया है, परन्तु जसवंतनगर का यह चित्र माँ-शिशु के सहज सम्बन्ध की तरह ही चिरपुरातन-चिरनूतन है। इस जोड़ की चीज़ हमारे यहाँ थी ही नहीं

परन्तु जहाँ प्रेमचन्द ने मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध जोड़ा है वहाँ भी वह अद्वितीय है—"श्यामल क्षितिज के गर्भ से निकलने वाली बालज्योति की भाँति अमरकांत को अपने अन्तःकरण की सारी क्षुद्रता, सारी कलुषता के भीतर एक प्रकाश सा निकलता हुआ जान पड़ा जिसने उसके जीवन को रजतशोभा प्रदान कर दी। दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वरों में, गगन की तारिकाओं में, उसी शिशु की छवि थी, उसी का माधुर्य था, उसी का नाम था।" (कर्मभूमि, पृ० ६४) "गगनमंडल में चमकते हुए तारागण व्यंग-दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने वृक्षों के कुंज थे, विनय की स्मृति मूर्ति, श्याम, करुण ज्वर की भाँति कंपित, धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है।" (रंगभूमि, ४५६)। इस प्रकार के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्र प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेंगे। भाषा-शैली का सर्वोच्च विकार भी यहीं मिलेगा, जहाँ वह मनोविज्ञान का भव्य-रस और प्रकृति सौन्दर्य के साथ-साथ व्यंजित करती चलती है।

३—पात्रों की भाषा (कथोपकथन)

पात्रों की भाषा ही प्रत्येक उपन्यास की जान होती है। अतः यहीं हम उपन्यासकार की सफलता-असफलता की जाँच करते हैं। कथोपकथन ही वह शक्ति है जिसमें पात्र अपने को प्रकाशित करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो कथोपकथन का अध्ययन आवश्यक है ही, भाषा की दृष्टि से भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक ही साँस में यदि पात्रों की भाषा के गुण बताना हो तो हम कह सकते हैं कि "वह स्वाभाविक और पात्रानुकूल हो, चरित्र-चित्रण द्योतक हो, श्लील हो, मनोरंजक हो।"

परन्तु यह हुई चलती बात। हमें विशद रूप से प्रेमचन्द के

पात्रों की भाषा पर विचार करना है। अतः हमें परिस्थिति को सुलझाकर समझाना होगा। प्रेमचन्द से पहले के उपन्यासों में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हो चुका था। एक तत्सम (संस्कृत-) प्रधान हिन्दी थी, दूसरी ऐसी सरल हिन्दी जो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों को भी स्वीकार कर लेती थी। उदाहरण-स्वरूप—"इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ ग्रामके आराम, पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × पुराने टूटे-फूटे शिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़ जहाँ झुंड के झुंड कौए और बगुले बसेरा लेते हैं गवँई की शोभा बढ़ाते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।" (श्यामास्वप्न) इस अवतरण में स्पष्टतयः अनुप्रास का प्रयोग है और "गोधूली" और "सीमांत" जैसे कठिन शब्द लिखे गये हैं। दूसरे प्रकार की गद्य-शैली देवकीनंदन खत्री की चन्द्रकांता की भाषा थी जो काफ़ी लोकप्रियता भी प्राप्त कर सकी। प्रेमचन्द के सामने भाषा-विषयक दो प्रकार की समस्यायें थीं। एक तो यह कि वे उन नये पात्रों की भाषा को क्या रूप दें जिनका संबंध खड़ी बोली हिंदी से स्थापित न हो पाया था, दूसरे कि वे अपनी भाषा की उर्दू वाली रवानी (प्रवाह) को बनाये रखते हुए संस्कृत शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करें। प्रेमचन्द की रचनाओं में इन समस्याओं का उत्तर भली भाँति मिल जाता है। पहली समस्या पात्रों की भाषा के संबंध में है—इस पर हम विस्तारपूर्वक कुछ कहेंगे। अन्य स्थलों की भाषा प्रेमचन्दी भाषा है। यदि उनकी भाषा का एक सामान्य उदाहरण उपस्थित करना हो तो हम यह उदाहरण देंगे—

१—"दुनिया सोती थी पर दुनिया की जीभ जागती थी। सवेरे ही देखिए, बालक-वृद्ध सब के मुँह से यही बात सुनाई देती थी। जिसे

देखिए, वह पंडितजी के इस व्यौहार पर टीका-टिप्पणी करता था। निन्दा की बौछार हो रही थी, मानो संसार का अब पाप का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोज़नामचे भरने वाला अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफ़र करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज़ बनाने वाले सेठ और साहूकार सब के सब देवताओं की भाँति गरदनें हिला रहे थे।"

२—"प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफ़ा उबाली चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी दुधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थे। घर में गये ज़रूर कि पत्नी को जगा कर पैसे माँगे, पर उसे फटे-मैले लिहाफ़ में निमग्न देखकर जगाने की इच्छा नहीं हुई। सोचा, शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात भर नींद न आई होगी, इस वक़्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था, चुपके से चले आये।"

परंतु पात्रों की भाषा सदैव इस प्रकार की भाषा नहीं हो सकती थी। पात्रों की भाषा के संबंध में समस्या थी विभिन्न वर्गों की भाषा की—गाँव वालों की भाषा क्या हो, शहरातियों की भाषा कैसी हो, मुसलमान हिंदी बोलें या उर्दू। शहर में भी शिक्षा और पेशे के हिसाब से अनेक श्रेणियाँ हैं जिनकी बोल-चाल में अंतर है। जिस सामान्य भाषा के दो अवतरण ऊपर दिये हैं उनसे इनका अंतर किस प्रकार प्रगट किया जाय कि यथार्थता हाथ से न जाय ?

यदि संवाद का उद्देश्य पात्र-निरूपण है तो वह पात्र के अनुकूल होना चाहिये जैसे दार्शनिक शुद्ध हिंदी बोले या तत्सम प्रधान हिंदी, ग्रामीण है तो देहाती भाषा, मुसलमान है तो उर्दू। यदि ऐसा नहीं है तो पात्रों में स्वाभाविकता नहीं आ सकती। प्रेमचन्द ने मुसलमानों और ग्रामीणों का साधारणतः भाषा-विषयक एक विशेष सिद्धांत बना

लिया और वे इसी पर चले हैं। मुसलमान पात्र कठिन उर्दू का ही प्रयोग करते हैं यद्यपि कहीं-कहीं वे सरल उर्दू भी बोलते हैं जो सरल हिंदी से बहुत भिन्न नहीं है और कुछ एक कहानियों में हिंदी का भी प्रयोग करते हैं जैसे अरब कहता है—"नहीं, नहीं, शरणागत की रक्षा करनी चाहिये। आह! ज़ालिम! तू जानता है मैं कौन हूँ। मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है? तूने मेरे खानदान का निशान मिटा दिया है। मेरा चिराग़ गुल कर दिया।" परंतु कहानी अरब से संबंध रखती है और प्रेमचन्द अरबी भाषा में कथोपकथन नहीं लिख सकते थे। जहाँ कहानी विदेश से संबंधित है, एकदम नितांत नवीन भाषा-भाषी पात्रों को सामने लाती है, वहाँ तो सामान्य-भाषा का प्रयोग करना ठीक ही होगा। कठिनाई केवल उन मुसलमान पात्रों के विषय में है जो हिन्दुस्तान के ही लोग हैं परंतु कठिन उर्दू बोलते हैं। इनकी भाषा क्या हो? क्या वही जो वह बोलते हैं या इनकी भाषा के साथ भी वही किया जाय जो विदेशी अरबों की भाषा के साथ किया गया है। इस प्रश्न को लेकर हिंदी के कथाकारों के दो दल हो गये हैं। 'प्रसाद' के मुसलमान पात्र भी संस्कृत-गर्भित हिंदी बोलते हैं। 'बख्शी' ने अपनी कहानी 'कमलावती' में रुस्तम से संस्कृतमय भाषण उपस्थित कराया है। सीधा-साधा प्रश्न यह है कि ऐसे मुसलमान पात्र के लिए जो हमारे प्रांत में रहता है शुद्ध हिंदी बोलना स्वाभाविक होगा या अशुद्ध हिंदी या अधिक उर्दू, कम हिंदी। प्रेमचन्द के मुसलमान अधिकतर कठिन उर्दू बोलते हैं जैसे—"जब से हुज़ूर तशरीफ़ ले गये मैंने भी नौकरी को सलाम किया। ज़िंदगी शिकम-पर्वरी में गुज़री जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन कौम की ख़िदमत करूँ। इसी ग़रज़ से 'अंजुमन इत्तहाद' खोल रखी है। उसका मक़सद हिंदू-मुसलमानों में मेल-जोल पैदा करना है। मैं इसे

क़ौम का सबसे अहम मसला समझता हूँ। आप दोनों साहब अगर अंजुमन को अपने क़दमों से मुमताज़ फ़रमाएँ तो मेरी खुशनसीबी है।" (प्रेमाश्रम पृ० ३५०) "जनाब रिन्दों को न इत्तहाद की दोस्ती न मुखालिफ़त से दुश्मनी। अपना मुशरब तो सुलहेकुल है। मैं अब यही तै नहीं कर सका कि आलम बेदारी में हूँ या ख्वाब में। बड़े-बड़े आलिमों को एक बेसिर-पैर की बात की ताईद में ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाते देखता हूँ। क्योंकर बावर कहूँ कि बेदार हूँ? साबुन, चमड़े और मिट्टी के तेल की दूकानों में आपको कोई शिकायत नहीं। कपड़े, बरतन, अदवियात की दूकानें चौक में हैं, आप उनको मुतलक़ बेमौक़ा नहीं समझते। क्या आपकी निगाहों में हुस्न की इतनी भी वक़अत नहीं? और क्या यह ज़रूरी है कि इसे किसी तंग व तारीक कूचे में बंद कर दिया जाये? क्या वह बाग़ बाग़ कहलाने का मुस्तहक़ है जहाँ सरो की कतारें एक गोशे में हों, बेले और गुलाब के तख्ते दूसरे गोशे में और रविशों के दोनों तरफ़ नीम और कटहल के दरख्त हों, वस्त में पीपल का एक ठूँठ और हौज़ के किनारे बबूल की क़लमें! चील और कौए दोनों तरफ़ दरख्तों पर बैठे अपना राग अलापते हों और बुलबुलें किसी गोशये तारीक में दर्द के तराने गाती हों। मैं इस तहरीक की सख्त मुखालिफ़त करता हूँ। मैं इस क़ाबिल भी नहीं समझता कि उस पर साथ मतानत के बहस की जाय।" (सेवासदन, पृ० १८८)

जहाँ इस तरह की तक़रीरें कई पृष्ठों तक चली जाती हैं, वहाँ हिंदी का पाठक यह सोचे कि उपन्यास उसके साथ अन्याय कर रहा है तो कोई बेजा बात नहीं। परंतु उपन्यासकार भी लाचार है। यदि वह फ्राँसीसी और अरबी लोगों की कहानी लिखता है और उनका कथोपकथन हिंदी में रखता है तो पाठक बराबर यह समझे रहता है कि जिस भाषा में कहानीकार लिख रहा है उस भाषा में कथोपकथन

घटित न हुआ होगा। परंतु अपने प्रांत की कहानी में जहाँ मुसलमानों की बात आती है वहाँ इस तरह की बात ढह जाती है—वह मान्यता ही नहीं रहती। यहाँ जैसी परिस्थिति है उसको दृष्टि में रखते हुए कहानी उसे आस-पास ही असत्य लगेगी। क्या यहाँ का मुसलमान 'प्रसाद' की भाषा बोलता है या समझता है? वस्तुतः जहाँ उपन्यास हिंदुओं के ही विभिन्न वर्गों की भाषा में थोड़ा भेद रखता है वहाँ उसे और आगे बढ़कर मुसलमान के मुँह से उर्दू ही कहलवाना पड़ेगा—फिर चाहे वह एक वर्ग को असरल ही हो जाय। हो सकता है कभी प्रांत के पड़ोसी हिंदू-मुसलमानों की भाषा लगभग एक हो जाय, परंतु अभी तो मुसलमानी मजलिसों और घरों की भाषा (कम से कम शहर में) हिंदुओं की भाषा से कोई संबंध नहीं रखती। आँख खोलकर हिंदू-मुसलमानों दोनों में उठने-बैठने वाले प्रेमचन्द इस यथार्थ तथ्य को जानते थे। इसीलिए उन्होंने भाषा की यथातथ्य परिस्थिति को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। भाषा-संबंधी इस विषम परिस्थिति में बचने का तरीक़ा यही है कि हिंदू उपन्यास हिंदी में लिखते हुए मुसलमानों के घर और समाज में प्रवेश ही न करे—परंतु एक बार काजल की कोठरी में जाकर 'लीक' से बचना नहीं हो सकता। प्रेमचंद आलोचकों के एक वर्ग में उर्दू-फ़ारसी भाषा-शैली के प्रयोग के लिए लांछित हैं, परन्तु उन्होंने जो किया उसके सिवा कुछ और करना असंभव और अस्वाभाविक था।

दूसरी समस्या ग्रामीणों की भाषा-संबन्धी थी—इसे भी प्रेमचन्द को हल करना पड़ा। इस अध्ययन के आरंभ में हम उनका भाषा-प्रयोग-सम्बन्धी एक अवतरण दे चुके हैं। उससे परिस्थिति साफ़ हो जायगी। 'गढ़ कुंडार' (ले० वृन्दावनलाल) में अर्जुन जो बात करता है अपनी ठेठ बुन्देलखन्डी में करता है, परन्तु इतनी स्वाभाविकता को अकेले अर्जुन के साथ निभाया जा सकता है। जहाँ गाँव भर का चित्रण है

वहाँ यदि सब लोग ठेठ देहाती बोलें तो शहरी पाठक के लिए एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न होगी। बोली को समझने वाले सर्वत्र नहीं होंगे, कदाचित् एक विशेष प्रदेश के आगे उसे समझने में कठिनाई होगी। अतएव यह संभव है कि इस प्रकार का वर्तालाप पात्रों की स्वाभाविक रूपरेखा खींच सके, परन्तु पाठक उस बोली के सौष्ठव का आनन्द उठा सकेगा। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने ग्रामीण भाषा का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। इतनी दूर तक यथार्थवाद का पल्ला पकड़कर वह पाठकों के लिए एकदम दूरूह हो जाना नहीं चाहते थे। परन्तु फिर भी क्या प्रेमाश्रम के देहाती पात्रों की भाषा वही है जो शहरी पात्रों की है? क्या प्रेमचन्द ने देहाती भाषा में प्रयोग होने वाले सैकड़ों शब्दों को अपने उपन्यासों और अपनी कहानियों में स्थान नहीं दिया है? क्या उनके गोबर, मनोहर, सुजान, कादिर—सभी ग्रामीण पात्रों की भाषा सामान्य देहाती भाषा के पास नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामीण भाषा के संबंध में प्रेमचन्द ने एक बीच का मार्ग ग्रहण किया है—ऐसा नहीं करते तो उनके उपन्यासों में भाषा का अजायबघर खुल जाता और यह बात हास्यास्पद होती।

प्रेमचन्द की भाषा की एक खास खूबी उनका मुहावरों का प्रयोग है। उनके सिवा किसी भी अन्य साहित्यकार की भाषा में मुहावरों का इतना अधिक, इतना सार्थक प्रयोग नहीं हुआ है। इनके सारे साहित्य में कई हज़ार से कम मुहावरे न आये होंगे। भावों की गहनता और तीव्रता प्रगट करने में इन मुहावरों ने चमत्कारिक सहायता दी है। दिल के अरमान निकालने, 'कान खड़े हुए' (कायाकल्प, पृ० ३३२), 'दोनों आदमियों की दाँत काटी रोटी थी' (वहीं, पृ० ३३३) 'अहल्या अपनी चीजों को तीन तेरह न होने देना चाहती थी। इससे ननद-भावज में भी कभी-कभी खटपट हो जाती थी।' (वही, पृ० ५३३), 'सब विद्वानों के

गोरखधन्धे हैं।' (वही, पृ० ६०४) 'उसकी तूती बोलेगी' (वही, पृ० ५६८) अभाव से जीवन पर्यंत उनका गला न छूटा, (वही, पृ० ५८८) बेचारे लल्लू को ये सब पापड़ बेलने पड़ेंगे।' (वही, पृ० ४३३) कहीं-कहीं वे 'मुहावरों के बल पर ही वर्णन अथवा कथोपकथन सजाते चले जाते हैं—

"जब वह बाहर निकल गये तो गुरुसेवक ने मनोरमा से पूछा—आज दोनों इन्हें क्या पट्टी पढ़ा रहे थे ?

मनोरमा—कोई ख़ास बात तो न थी।

गुरुसेवक —यह महाशय भी बने हुये मालूम होते हैं। सरल जीवन वालों से बहुत घबड़ाता हूँ। जिसे यह राग अलापते देखो समझ लो, या तो इसके लिए अंगूर खट्टे हैं या वह यह स्वाँग रचकर कोई बड़ा शिकार मारना चाहता है।

मनोरमा—बाबू जी उन आदमियों में नहीं हैं।

गुरुसेवक—तुम क्या जानो। ऐसे गुरुघंटालों को खूब पहचानता हूँ। (कायाकल्प, पृ० १५७)

"हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के तो हाथ खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बाग़-बाग़ हो गये। फिर तो वह अंधेर मचा कि सारे इलाक़े में कुहराम मच गया। आसामियों ने नये राजा साहब से दूसरी ही आशायें बाँधी थीं। यह बला सिर पड़ी तो झल्ला पड़े। यहाँ तक कि कर्मचारियों के अत्याचार देखकर चक्रधर का ख़ून भी उछल पड़ा। समझ गये कि राजा साहब भी कर्मचारियों के पंजे में आ गये। (वही पृ० १६५)

मुहावरों के सिवा कहावतों और सूक्तियों का एक बड़ा ढेर उनके साहित्य में इकट्ठा है। इनसे भाषा-शैली की शुद्धि और सौन्दर्यमयता में पग-पग पर वृद्धि हुई है। 'जैसे राम राधा से वैसे राधा राम से (कायाकल्प), 'शुभमुहूर्त पर हमारी मनोवृत्तियाँ धार्मिक हो जाती हैं

(वही, पृ० १८०), सच है, सबसे अच्छे मूढ़, जिन्हें न ब्यापे जगत गति (वही, पृ० ६००), आए थे हरि भजन, ओटन लगे कपास (वही, पृ० ५५१) , मन की मिठाई घी-शक्कर की मिठाई से कम स्वादिष्ट नहीं होती (वही, पृ० ५२१) । इस प्रकार की सूक्तियाँ कहीं दो-चार पंक्तियों की हैं, कहीं वे ग्रंथकार के आत्मचिंतन का रूप धारण कर अधिक विस्तार पा जाती हैं ।

परंतु प्रेमचन्द की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी काव्यात्मकता । उपमा, उदाहरण, उत्प्रेक्षा—कितने ही अलंकारों के भीतर से बहकर आने वाला कल्पना-सौन्दर्य हमें आकर्षित ही नहीं कर लेता, महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन करता है । कुछ उदाहरण हैं—"सामने गगन-चुम्बी पर्वत अंधकार के विशालकाय राक्षस की भाँति खड़ा था । शंखधर बड़ी तीव्र गति से पतली पगदंडी पर चला जा रहा था । उसने अपने आपको उसी पगदंडी पर छोड़ दिया है । वह कहाँ ले जायगी, वह नहीं जानता । हम भी इन जीवन रूपी पतली, मिटी-मिटी पगदंडी पर क्या उसी भाँति तीव्र गति से दौड़े नहीं चले जा रहे हैं ? क्या हमारे सामने उनसे भी ऊँचे अंधकार के पर्वत नहीं खड़े हैं ? (कायाकल्प, पृ० ५०८) "मन में बारबार एक प्रश्न उठता था, पर जल में उछलने वाली मछली की भाँति फिर मन में विलीन हो जाता था (वही, पृ० ३१५) । "चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ मानो पृथ्वी डगमगा रही है, मानो समस्त ब्रह्माण्ड एक प्रलयकारी भूचाल से आन्दोलित हो रहा है" (वही, पृ० ५२६) । "पिता और पुत्री का सम्मिलन बड़े आनन्द का दृश्य था । कामनाओं के वे वृक्ष जो मुद्दत हुई निराश्य-तुषार की भेंट हो चुके थे, आज लहलहाते, हरी-हरी पत्तियों से लदे सामने खड़े थे (वही, पृ० ५७६) । "जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुन्दर रंगों से चित्रों में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आने से झोंपड़ी में जान आ गई । अंधी

आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती हैं, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है। प्रेम में मग्न है। नित्यप्रति प्रातःकाल इस झोंपड़े से दो तारे निकलते हैं और जाकर गंगा में डूब जाते हैं। उनमें से एक बहुत दिव्य और द्रुतगामी है, दूसरा मध्यम और मन्द। एक नदी में थिरकता है, नाचता है, दूसरा अपने वृत्त से बाहर नहीं निकलता। प्रभात की सुनहरी किरणों में इन तारों का प्रकाश मन्द नहीं होता, वह और भी जगमगा उठते हैं। (सेवासदन, ३४०)

प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की फूलझड़ी बराबर छूटती रहती है। जहाँ कहानी को आकर्षक बनाने के लिये अच्छे प्लॉट या कथानक की आवश्यकता है, वहाँ भाषा-सौन्दर्य के लिए उपमाओं की कम आवश्यकता नहीं है। पहली बात तो यह है कि इन्हीं के द्वारा पात्रों के द्वारा उपन्यासकार के हृदय पर पड़े प्रतिबिम्ब की झलक पात्रों को मिल जाती है। चरित्र विश्लेषण और विवेचन पाठक को इतना नहीं छूता, जितना उपन्यासकार की तत्सम्बन्धी स्वतः अनुभूति। इसीलिए सफल उपन्यासकार बराबर ऐसी उपमाओं का प्रयोग करते हैं जो ऊपर से देखने पर तो साधारण जान पड़ती हैं परन्तु वैसे उनके भीतर गहरी अनुभूति और गम्भीर तथ्य छिपे रहते हैं।

प्रेमचन्द की उपमा उत्प्रेक्षाएँ एवं उदाहरण बहुत संक्षिप्त होते हैं, परन्तु मनुष्यप्रकृति का गहरा अध्ययन उनमें छिपा होता है। उनकी भाषा सरल और सर्वसुगम होती है। वह आध्यात्मिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक सचाई को अत्यंत सूखे शब्दों में हमारे सामने रखते

हैं। उनसे उनकी तीक्ष्ण पर्यवेक्षण-शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है जैसे "एक छोटा-सा तिनका भी आँधी के समय मकान पर जा पहुँचता है, "काँच का टुकड़ा जब टेढ़ा होता है तो तलवार से अधिक काट करता है"। परन्तु उन्होंने कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर बड़े रूपक भी बाँधे हैं जो काव्य-सौन्दर्य में गीतिकाव्य की भाँति स्वच्छ और उत्कृष्ट हैं—

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंत-नगर यों शयन कर रहा है, जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें, प्रेमोद्गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती, निकलती हैं, और बालक के नन्हें से मुख में न समाकर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण किरणों में नहाकर माता का मुख निखर गया है, और बालक भी, अंचल से मुँह निकालकर, माता के स्नेह-प्लावित मुँह की ओर देखता है, हुमुकता है, और मुस्कुराता है, पर माता बार-बार उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाय।

सहसा तोप के छूटने की कर्णकटु ध्वनि सुनाई दी। माता का हृदय काँप उठा, बालक गोद से चिपट गया।

फिर वही भयंकर ध्वनि! माँ दहल उठी, बालक सिमट गया।

फिर तो लगातार तोपें छूटने लगीं। माता के मुख पर आशंका के बादल छा गये। आज रियासत के नए पोलिटिकल एजेन्ट यहाँ आ रहे हैं। उन्हीं के अभिवादन में सलामियाँ उतारी जा रही हैं।" (रंगभूमि, पृ० ४५८)

उनकी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ उनके पात्रों के मनोविज्ञान को इस खूबी से स्पष्ट करती हैं कि हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं, जैसे "शिकरे के चंगुल में फँसी हुई फ़ाख्ता की तरह कामिनी के होश उड़ गए।"

"नदी दूर ऊँचे किनारों में इस तरह मुँह छिपाये हुए थी जैसे कमज़ोरों में जोश।" फिर उनकी चुस्ती (सौष्टव) तो देखने योग्य है—'मथुरा की जान इस समय तलवार की धार पर थी" "जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही सुलग जाती है वैसे तकलीफ के ध्यान से उनका ब्रह्मपुरी का सोया हुआ चाँद जग उठा।" और जहाँ वे इनके बल पर प्रकृति-चित्रण करते हैं वहाँ तो साधारण शैलीकार की पहुँच के बाहर हैं—"पेड़ों की काँपती हुई पत्तियों से सरसराहट की आवाज़ निकल रही थी मानों कोई वियोगी आत्मा पत्तियों पर बैठी हुई सिसकियाँ भर रही हो"।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली के क्रम विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी अपनी वैयक्तिक शैली है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को लेकर उनकी अन्तिम रचनाओं तक शैली में विशेष अन्तर नहीं आया है। हाँ, उसके भिन्न-भिन्न रूप प्रकाश में आते रहे हैं और वह बराबर पुष्ट होती रही है। कायाकल्प तक शैली में धीरे-धीरे तत्समता और काव्यात्मकता का बराबर विकास होता गया है। अशुद्ध प्रयोग कम होने लगे हैं। कायाकल्प से गोदान तक की भाषा-शैली वैभिन्न और प्रौढ़ता में अद्वितीय है। वह धीरे-धीरे काव्यात्मकता से हटकर संयम और मितव्ययता की ओर जा रही है। गोदान में हम उसके सबसे सुन्दर, सुष्ठु और संयमित रूपों से परिचित होते हैं। भाषा तत्सम-प्रधान है, शैली गीतकाव्य की शैली की भाँति संगठित, संयोजित और स्वस्थ। प्रेमचंद जो कहना चाहते हैं वे कम से कम शब्दों में अधिक से-अधिक प्रभाव के साथ कह देते हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि प्रेमचंद की भाषा-शैली समसामयिक निबंधकारों और कथाकारों की भाषा-शैली से भिन्न किस प्रकार है। कई कहेंगे, इन बातों में वह भिन्न है—१. उर्दू शब्दों के प्रयोग से

उसमें प्रवाह आ गया है, २. मुहावरों का इतना प्रयोग है कि मुहावरे ही उनकी भाषाशैली की जान हैं, ३. सूक्तियों का अधिक प्रयोग. ४. संयमित काव्यात्मकता, ५. रसनिरूपण की शक्ति। उचित यह है कि हम इस बात का अध्ययन करें कि प्रेमचन्द की भाषाशैली उनकी पहली उर्दू रचनाओं की कितनी ऋणी है और .खुद उनकी उर्दू भाषा-शैली का उर्दू भाषा-शैली के इतिहास में क्या स्थान है। प्रेमचन्द ने हमें हिन्दुस्तानी-हिन्दी (प्रेमचंदी हिन्दी) दी है। वे हमारी भाषा के श्रेष्ठतम कलाकार हैं। उनके बाद भाषा-शैली के क्षेत्र में प्रयोग चाहे जैनेन्द्र करें या अज्ञेय, प्रयोग-प्रयोग हैं। प्रेमचंद की भाषा की सुषमा, उसका सुलझाव, उसकी मस्ती, उसका प्रवाह, उसका व्यंग इन प्रयोगों में कहाँ है। कथा की रोचकता की दृष्टि से तो वे हानिकर ही अधिक हैं। प्रेमचन्द के बाद न कथा-साहित्य में, न अन्य किसी क्षेत्र में उनकी भाषा-शैली का प्रयोग हुआ। इस ज़मीन पर चलना ही कठिन था। इसी से प्रेमचन्द की भाषा-शैली निर्द्वन्द्व, स्वच्छंद, प्रेमचन्द की छाप लिए एकांत खड़ी है। हमें चाहिये कि हम उसका विश्लेषण करें और देखें कि उसमें राष्ट्रीय भाषा होने की कितनी क्षमता है।

जिस समय प्रेमचन्द भाषा-शैली के क्षेत्र में अनेक प्रयोग कर रहे थे उस समय द्विवेदी युग के अनेक लेखक और शैलीकारों ने अपनी-अपनी शैलियों से हिन्दी की पुष्टि की। इनमें प्रमुख हैं बाबू श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, गुलाबराय, माखनलाल चतुर्वेदी, जयशंकर-प्रसाद और रायकृष्णदास। इन लेखकों की शैलियों पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़े हैं और कुछ उन प्रभावों के कारण और कुछ स्वतः उनकी अपनी मौलिक प्रवृत्तियों के कारण उनमें साम्य की अपेक्षा विभिन्नता ही अधिक है। आज साहित्य के क्षेत्र में जो अनेक

शैलियों का निबन्ध, उपन्यास, कहानी और आलोचना के क्षेत्र में प्रयोग हो रहा है, उसके लिए हम द्विवेदी युग के इन लेखकों और शैलीकारों के ही ऋणी हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास की भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ उनका गद्य उर्दू-फ़ारसी शब्दों के मेल से बराबर बचा रहता है, वहाँ उसमें न बड़े-बड़े समासांत संस्कृत गर्भित वाक्य हैं, न छोटे वाक्य में ही सूत्र-रूप में बहुत कुछ भर दिया गया है। न उसमें पं० रामचन्द्र शुक्ल की समास-पद्धति मिलेगी, न गोविन्द-नारायण मिश्र की संस्कृत-गर्भिता। साधारणतः उनकी शैली गंभीर, रूक्ष और विचारों से बोझीली है। वह प्रज्ञात्मक है, रसात्मक नहीं। कदाचित् इसका कारण यह हो कि उनका अधिकांश जीवन व्याख्याता और अध्यापक के रूप में बीता। व्याख्यान और अध्यापन में जिस तथ्य प्रधान, सीधी-सादी, सार-गर्भित शैली का प्रयोग होता है, वही इनकी शैली में है। न कहीं रसोद्रेक है, न भावपरता, न व्यंग। परन्तु जिस शैली को द्विवेदीजी ने जन्म दिया उस सामान्य हिन्दी शैली का विकसित रूप इसी शैली में मिलता है और साधारण विवेचन के लिए इससे अधिक उपयुक्त शैली की संभावना कठिन है। आज भी अनेक लेखक इस शैली का प्रयोग कर रहे हैं। यह शैली मुख्यतः विवेचना-प्रधान है और इसमें लेखक का केवल एक ही लक्ष्य रहता है। वह लक्ष्य है पाठक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति की तृप्ति, प्रवाह, सरलता और स्पष्टता इस शैली के आवश्यक गुण हैं। इन गुणों के अभाव में न विवेचना ही ठीक हो सकेगी, न पाठक की जिज्ञासा ही तृप्त हो सकेगी। वास्तव में भाषण-कला की जो विशेषताएँ हैं, वे सब इस शैली में मिल जायेंगी। 'साहित्य का विवेचन' शीर्षक लेख इस शैली का सम्यक उदाहरण है—

"हिन्दी साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित

होता है कि हम उसे भिन्न-भिन्न कालों में ठीक-ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे-छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच-बीच में दूसरी छोटी-छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का सम्बन्ध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मन्द गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूपों को धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती है, और अनेक भूभागों से होकर बहती है, वैसे ही हिन्दी साहित्य का इतिहास भी प्रारंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है।" एक दूसरा उदाहरण लीजिये—"पृथ्वीराज रासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है, उतनी दूसरे अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। छंदों का जितना विस्तार और भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन गाथा होने के कारण इसमें वीरगीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि 'रामचरितमानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परन्तु इस ग्रंथ में वीरभावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति

हुई है, और कहीं-कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी गणना हिंदी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रन्थ अब साधारण जनता के लिए दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराज रासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।" यह स्पष्ट है कि यह साधारण विवेचनात्मक हिन्दी भाषा-शैली का ही पुष्ठ रूप है। प्रेमचन्द की जातीय भाषा-शैली कथा-कहानी और साधारण बातचीत के लिये अत्यंत उपयुक्त थी, परंतु विषयों को हृदयग्राही बनाने के लिये विषयों के अनुरूप शब्दावली का गढ़ना आवश्यक था। यही कारण है कि बाबू श्यामसुंदरदास की शैली में तत्सम शब्द भी काफ़ी संख्या में आ जाते हैं, परंतु वक्तृत्वकला का सहारा लेने के कारण शैली दुरूह नहीं हो पाती।

द्विवेदीयुग के गद्य लेखकों में बख्शी जी का महत्वपूर्ण स्थान है। अपने स्वतंत्र अध्ययन से वह उस युग के लेखकों को प्रभावित कर सके हैं और 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने हिंदी-लेखकों को पहली बार विदेशी साहित्य की ओर आकर्षित किया है। यों तो इतिहास, दर्शन, साहित्य, और अध्यात्म लगभग सभी विषयों पर उन्होंने लिखा है, परंतु हिंदी आलोचना में नए-नए तथ्यों का समावेश करने में वे प्रथम हैं। उनकी भाषा-शैली उनके साहित्य के अध्ययन और मनन की प्रतीक है। छोटे-छोटे वाक्य और सीधा-सादा बात कहने का ढंग उनकी गद्य-शैली की विशेषता है। उन्होंने शैली की ओर कम, विषय की ओर अधिक ध्यान दिया है। नई पाश्चात्य कला और पाश्चात्य रोमांटिक काव्य के पहले आलोचक वही थे—"साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एक मात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय

होना चाहता है। परंतु वह संपूर्णता है कहाँ? बाह्य प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य जगत में ही मनुष्य संपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह संपूर्णता कवि के कल्पना-लोक में और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन का पूर्ण रूप प्रकाशित होता है। वहीं यथार्थ में सौन्दर्य देखते हैं। उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। यह वही प्रकाश है, जिसके विषय में किसी कवि ने कहा—

'The Light which never was on land or sea,
The Consecration and the poet's dream.'

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल में कहीं नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में है।" कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्दों को उसी तरह भी रख दिया जाता है—"अँग्रेज़ी में जिसे (Art Impulse) कहते हैं, वह मनुष्य-मात्र में है। असभ्य जातियों में भी यह कला-वृत्ति विद्यमान है। कविता, संगीत और चित्र-कला के नमूने कंदराओं में रहने वाली जातियों में भी पाये जाते हैं। अपनी सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रधान रूप से साहित्य चिंतक और आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने मनोवैज्ञानिक निबंध भी लिखे हैं और इस दिशा में उनका काम सर्वथा नवीन है। गंभीर, चिंतन-प्रधान, अध्ययन मूलक, संस्कृत-गर्भित, भाषा-शैली शुक्लजी की विशेषता है। उन्होंने पहली बार ऐसे गद्य का निर्माण किया जो विचारमूलक और आलोचना-प्रधान था और जो उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता था। कहीं छोटे छोटे वाक्यों में उन्होंने गंभीर विचार भर दिये हैं और इन वाक्यों और विचारों की लड़ियाँ दूर तक चली गई हैं। कहीं बड़े-बड़े वाक्य हैं जिनमें वे किसी एक गंभीर विचार को आगे बढ़ाते, उसे शब्द-शब्द पर नया बल देते हैं। सामूहिक रूप से उनकी शैली

पाठक के मन पर उनकी अगाध विद्वत्ता और उनके गंभीर व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाती है। परंतु कहीं-कहीं वह अभ्यस्त, व्यंगात्मक, मार्मिक और चुटीली हो गई है; विशेषकर जहाँ वे किसी विरोधी सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हैं या किसी उच्छृंखल कवि को सावधान करते हैं। गंभीर साहित्य विवेचना के बीच में यह व्यंग-प्रधान शैली आचार्य के गद्य को नया वेग और नई स्फूर्ति प्रदान करती है और पाठक का मन ऊबता नहीं। संकेतात्मक अभिव्यंजना, भावसौष्ठव और गंभीर विवेचना के लिये इस गद्य-शैली में बड़ी संजीवन शक्ति है।

शुक्लजी की गद्य-शैली पर विचार करते हुए 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का विकास' खोज ग्रन्थ के लेखक डॉ० श्रीकृष्णलाल लिखते हैं—"महावीरप्रसाद द्विवेदी की कहानी कहने की कला के विपरीत रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्यों की गुरु गंभीरता का अनुकरण किया। उनकी शैली बड़ी गंभीर है और ऐसा जान पड़ता है मानों कोई बहुत ही विद्वान अनुभवी और अध्ययनशील पुरुष अच्छी तरह खाँस-खूँस कर अपने शुष्क पांडित्य का प्रदर्शन कर रहा हो, यथा —

'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें कुछ दुख पहुँचा हो, उस पर हमने क्रोध किया, वह यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा, तो वह वैर कहलाता है।'

[हिंदी निबंध माला, प्रथम-भाग—क्रोध]

'दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है।' इत्यादि [वही, करुणा]

रामचन्द्र शुक्ल की शैली में शुष्कता और नीरसता अधिक है।" (पृ० १८०) परंतु यह शुष्कता और नीरसता उनके लिये है जो गंभीर, विचारशील अध्ययन से दूर भागते हैं। वास्तव में शुक्ल जी की शैली

को पंडित शैली कहा जा सकता है। उसकी कुंजी पाना सहज नहीं है, परंतु जब एक बार उसकी कुंजी मिल जाती है तो उसकी अभिव्यंजना शक्ति को देख कर मन चकित हो जाता है। एक विचार दूसरे आगे आने वाले विचार के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करता हुआ, अपने को खोलता हुआ, धीरे-धीरे समष्टि में खो जाता है। उदाहरण के लिए श्रद्धा-भक्ति-संबंधी ये पंक्तियाँ—"किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनन्दपद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी व बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख कर सिर नवाएँगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कार्यों के प्रति श्रद्धा होती है, उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।"

वियोगी हरि की प्रतिभा ने गद्य और पद्य दोनों के क्षेत्र में योग दिया है। जहाँ उनकी भावधारा में भक्ति और अध्यात्मवाद का समावेश रहता है, वहाँ उनकी शैली में कवित्वमयता, पांडित्य और मनमौजीपन का इतना सुन्दर मिश्रण होता है कि हृदय मोहित हो जाता है। शैली की मनोरंजकता उनके गद्य की विशेषता है। कवितामय गद्य लिखने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं। सहृदयता और भावुकता के साथ व्यंजना का इतना सुंदर योग अन्यत्र नहीं मिलेगा। वियोगीहरि अनुभूति को सच्चा रूप देने वाले कलाकार हैं। उनकी कोमल, सानुप्रास,

प्रवाहमयी वाग्धारा पाठक को दूर तक बहा ले जाती है। उनके स्थायीभाव अध्यात्मवाद के कारण कहीं-कहीं भाव अस्पष्ट हो जायें, या समासांत पदावली पाठक को कृत्रिम लगे परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि विषय को रोचक बनाने में वह अद्वितीय हैं। भावप्रधान गद्य-शैलीकारों में वे प्रमुख हैं।

भाषा की दृष्टि से वियोगीहरि की शैली में तत्समता की प्रधानता रहती है परंतु इस तत्समता को अपनी प्रवाहमयी शैली और उर्दू के निर्बाध प्रयोग के कारण उन्होंने सरल और ग्राह्य बना दिया है। उनकी सरलता और चपलता उनके अगाध पांडित्य को सरसता प्रदान करती हैं। वे संस्कृत, फ़ारसी और उर्दू के विद्वान हैं, अतः स्थान-स्थान पर इन भाषाओं की सरस उक्तियों को स्थान देकर वे रागात्मकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं।

वियोगीहरि के व्यक्तित्व में भक्तिभावना, राष्ट्रप्रेम, दीनों के प्रति अपार सहानुभूति और उच्च साहित्यिकता का अद्भुत सम्मिश्रण है और इन तत्वों ने उन्हें इस युग का एक विशिष्ट शैलीकार बनाया है। पद्मसिंह शर्मा के बाद ऐसी रोचक शैली को प्रयोग और किसी ने नहीं किया है—

"जय यमुने! कहो! श्याम-रसोन्मादिनी, श्याम यमुना कैसी मत्तगयंद गति से बह रही है! शीतल मंद सुगंधी समीर ने रसाचार्य जयदेव के इस पद का स्मरण करा दिया है—

धीर समीरे यमुना तीरे बसति बने बनमाली

चलो, कालिन्दी-कूल पर इन रमणीय कुंजों में घड़ी दो घड़ी विश्राम कर लें। फिर आगे बढ़ें। तरंगावली पर बैठकर मानों वह चंचल चित्त थिरको चाहता है। क्या ही मनोमुग्धकारी कलकल निनाद है! यह रमण-रेत रजत चूर्ण के सदृश कैसी बिछी हुई है!

जी चाहता है, वस्त्र उतार कर इस पर खूब लेट लगायें। इस

रज के स्पर्श मात्र से ही एक अपूर्व आनंद का अनुभव होने लगता है।

यह रज मुक्ति को भी मुक्त करने वाली है।

मुक्ति कहैं गोपाल सौं, मेरी मुक्ति बताय।
ब्रज-रज उड़ि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥

धन्य है उन सर्वत्यागी अनन्य भक्तों को जो सदा ही ब्रज की इस विरज रज पर रमते हुए भाव-मग्न रहा करते हैं। हम पामरों को यह सुख कहाँ!

धन्य कलिंद-नंदनी! तुमने क्या-क्या नहीं देखा-सुना! तुमने रास विहार देखा, ब्रजवल्लभ की बंशी ध्वनि सुनी; विरहिणी ब्रजाङ्गनाओं के संतप्त आँसुओं से अपने हृदय को रँगा और भारत वर्ष के कई युगों का इतिहास अपनी श्याम धारा से अंकित किया। सैकड़ों कवियों ने तुम्हारी महिमा गायी, सहस्रों पापियों ने तुम्हारे जल से अपना पाप-पंक पखारा और लाखों प्राणियों को तुम्हारे तटपर जीवन दान मिला। धन्य यह तरंगावली!

कैधौं अंधकारु-कृत अखिल अगारू चारु,
कैधौं रसराज की मयूख मंजु जाकी है।
कैधौं स्यामविरह वियोगिन के नैन ऐन,
कज्जल कलित जलधारैं धार ताकी है॥
'ग्वाल' कवि कैधौं चतुरानन के लिखिबे कौं,
फूट्यौ मसि-भाजन, अनूप छवि वाकी है।
कैधौं जल स्वच्छ में प्रतच्छ जल-झाँई, कैधौं
तरल तरंगें मारतंड-तनया की है॥"

(ब्रजमंडल)

गुलाबराय विचारधारा और शैली दोनों के क्षेत्रों में द्विवेदी युग और समसामयिक युग के बीच की कड़ी है। उनके निबंधों में शैली

की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। साधारण हास-परिहास से लेकर गंभीर विवेचना-प्रधान साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध तक उन्होंने लिखे हैं और विजय के अनुरूप वे शैली को बराबर बदलते रहे हैं। द्विवेदी युग के वे ऐसे प्रथम लेखक हैं जिसके लेखों में भाषा का एक नई गति-विधि और विचारधारा से उद्दीप्त नूतन भावभंगी के दर्शन होते हैं। उन्होंने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध लिखे हैं। उनके साहित्यिक निबंधों की भाषा बड़ी संगठित है और उसके भीतर एक पूरी अर्थ-परंपरा बँधी रहती है। 'काव्य का क्षेत्र' शिर्षक निबंध में वह लिखते हैं—"सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आंतरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आंतरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य, शिव और सुंदर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है, शिव कर्मक्षेत्र की अनेकता की एकता का रूप है। सौन्दर्य भावक्षेत्र का सामञ्जस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों वा रूपों के ऐसे सामञ्जस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय करले। सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिए जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती हैं, वह सामञ्जस्य का ही आंतरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का सामञ्जस्य है। उसमें न तमोगुण की-सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की-सी उत्तेजित सक्रियता। समन्वित सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करना कवि और कलाकार का काम है। संसार में इस सौन्दर्य की कमी नहीं। कलाकार इस सौन्दर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डालकर जनता के लिए सुलभ और ग्राह्य बना देना है।"

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' के नाम से राष्ट्रीय कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'कर्मवीर' के संपादक के नाते एवं अनेक भाषणों, वक्तृताओं और साहित्यिक लेखों के रूप में उन्होंने गद्य भी कम नहीं लिखा है। उनका अधिकांश गद्य-साहित्य अप्रकाशित है, परंतु प्रकाशित साहित्य के आधार पर ही हम उन्हें अपने युग का श्रेष्ठ शैलीकार कह सकते हैं। अन्य कलाकारों से उनकी विशेषता यह है कि उनकी लेखनी से जितना कलापूर्ण गद्य प्रसूत हो सकता है, उतना ही कलात्मक गद्य उनकी वक्तृताओं में भी रहता है।

चतुर्वेदीजी के गद्य में हमें गद्य के काव्यात्मक रूप का चरम उत्कर्ष मिलता है। कहीं-कहीं पर उनका गद्य बिना छंद का पद्य बन गया है। हृदय के सारे रस में डूब कर उनकी लेखनी साधारण-से-साधारण विषय को मूर्तिमान करने में सफल है। रायकृष्णदास की तरह उनकी शैली भी मुख्यतः अन्योक्तिप्रधान, अतः सांकेतिक है। भाषा और व्यंजना के अनेक परदों के पीछे उनकी बात छिपी रहती है, परंतु जब पाठक उनकी अभिव्यंजना के रूप से परिचित हो जाता है तो वही बात साहित्यरस में डूब कर उसे आर्द्र कर देती है।

आधुनिक युग में अनेक कवियों ने गद्य लिखा है, परंतु उनके संकेत अस्पष्ट बनकर पहेली बुझाने लगते हैं। माखनलालजी के गद्य में यह दुरूहता नहीं है। ऊँचे-से-ऊँचा दर्शन और गहरे-से-गहरा भाव उनकी संकेतात्मक और काव्यात्मक रचनाशैली में प्रगट होकर भी सुबोध बना रहता है। इसका कारण उनके वाक्यों और पदों का कलात्मक संगठन है। छोटे-बड़े, खुले-मुँदे, मीठे-चुटीले वाक्य उनकी शैली में साथ-साथ चलते हैं। तन्मयता और रागात्मकता की दृष्टि से उनकी शैली अपूर्व है। उनकी व्यंजनात्मक काव्य प्रधान शैली के सबसे सुंदर उदाहरण उनके सद्यःप्रकाशित ग्रंथ 'साहित्य-देवता' में मिलते हैं जिनमें उन्होंने साहित्य की एक नई रूपरेखा उपस्थित की है—

"मैं तुम्हारी एक तस्वीर खींचना चाहता हूँ।

मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; कलम की जीभ को बोल लेने दो। किंतु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्धविराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम मात्र होगा। परंतु यह काली बूँदें, अमृत बिंदुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक, और मेरे लिए अधिक मूल्यवान हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

× × ×

कौन-सा आकार दूँ? तुम मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनंत 'जाग्रत' आत्माओं के ऊँचे पर गहरे 'स्वप्न' जो हो। मेरी काली क़लम का बल, समेटे नहीं सिमटता। तुम, कल्पनाओं के मंदिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो। मानव-सुख के फूलों के और लड़ाके सिपाही के रक्त बिंदुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचूँ मैं? तुम तो वाणी के सरोवर में अंतरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पत्तियों, वृक्षराजियों और लताओं तक को अपने रुपहलेपन में नहलाए हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय—तुम्हें किस नाम से पुकारूँ? मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मंदिर, ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ ध्येय का माखन-चोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में, 'राधे' कहकर नहीं दौड़ा आ रहा है? आह, अब तो तुम, ज़मीन को आसमान से मिलाने वाले ज़ीने हो; गोपाल के चरण-चिह्नों को साध-साध कर चढ़ने के साधन। ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों, और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविंद के पदारविंद के पास पहुँचकर झूलने को मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह भूल पड़ता होगा?—आह, तुम कितने महान हो! इसीलिए

बेचारा लांगफ़ेलो तुम्हारे चरण-चिह्नों के मार्ग की कुंजी, तुम्हारे ही द्वार पर लटकाकर चला गया। × ×"

साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रसादजी की प्रतिभा ने योग दिया है। निबंधों, कहानियों, उपन्यासों और नाटकों के रूप में उनका बहुत अधिक गद्य-साहित्य हमारे सामने है। उसमें भाषा और शैली की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। परन्तु प्रसादजी की स्वाभाविक गद्य शैली उनके नाटकों और काव्यात्मक छोटी कहानियों में ही मिलती है। हिन्दी गद्य-लेखकों में वे एक बड़े कलाकार के रूप में सामने आते हैं। अपनी बात को अनेक बार सँवार कर अभिव्यंजना के सर्वश्रेष्ठ रूप में वे उसे हमारे सामने रखते हैं।

प्रसादजी की शैली में तत्समता की प्रधानता है। दार्शनिक विचारों, प्रकृतिचित्रण और तीव्र अंतर्द्वन्द्व के प्रकाशन में उन्होंने संकल्प-गर्भित, परन्तु चित्रात्मक भाषा शैली का ही प्रयोग किया है। पुरातत्व, इतिहास और संस्कृत साहित्य के अध्ययन ने उनकी शैली को प्रभावित किया है और वह सर्वसाधारण से दूर चली जाती है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा हो सकी है और उसने समसामयिक अनेक लेखकों को प्रभावित किया है।

वास्तव में प्रसाद की भाषा शैली में सब से प्रधान वस्तु उसका अलंकृत विन्यास है। अलंकृत शैली की परंपरा हिन्दी में बहुत पुरानी थी और स्वयं प्रसाद से पहले २० वीं शताब्दी में ही इसका कड़ा प्रयोग हुआ। लल्लीप्रसाद पांडेय का एक उद्धरण देखिये—"एक रत्नजड़ित सिंहासन पर कविता-देवी विराजमान थीं। अहा! उनका वह निश्चित वदन-मंडल क्या ही कमनीय था! सारे अंगों में थोड़ा-सा आभूषण 'प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी' के समान और भी मनोज्ञ थे। मस्तक पर मुकुट और हाथ में मनोहारिणी वीणा थी।

घुँघराले केशों की छवि तो निराली थी। बालरवि के सदृश मुख-मंडल पर दीप्ति चमक रही थी। इत्यादि।" इसी अलंकृत शैली को चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'नंदननिकुंज' में अमर कर दिया है, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं जटिलता और दुरूहता भी आ गई है।

"हृदय की उत्तप्त-भूमि में अभिलाषा और आशा की धधकती हुई चिता के आलोक में गत जीवन की पूर्व-स्मृति, प्रेमपुंज की भाँति अट्टहास कर रही है। मैं देख रहा हूँ, सहस्र वृश्चिक-दशन के मध्य में, तीव्र मद के भयंकर उन्माद में, रौरव नरक की धधकती हुई ज्वाला में स्थित होकर मैं दुर्भाग्य के किसी अज्ञेय एवं अचिंत्य विधान से जीवित रहकर इस पैशाचिक मृत्यु को देख रहा हूँ।"

'पल्लव' की भूमिका में पंडित सुमित्रानन्दन ने इसी अलंकृत शैली का बड़ा सुंदर प्रयोग किया है—"जिस प्रकार उस युग के स्वर्णगर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के उपासक भी; जो प्रातःस्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु वल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णाङ्कित हैं; इतिहास के ही नहीं देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्टछाप उसकी सभ्यता के वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अमिट और अमर है। इन्हीं युग प्रवर्तकों के गम्भीर अन्तस्तल से ईश्वरीय-अनुराग के अनन्त उद्गार उमड़ कर देश के आकाश में घनाकार छा गए। इत्यादि।" इसी अलंकृत शैली का पूर्ण विकास प्रसाद की विशेषता है। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में गद्य की भाषा को बोलचाल की भाषा बनाने की चेष्टा की गई, परन्तु इसके बाद गद्य के क्षेत्र में कई प्रभावशाली कवियों ने पदार्पण किया। फलस्वरूप, गद्य की भाषा पद्य की भाषा के बहुत निकट आ गई। यमक, अनुप्रास, उपमा और उत्प्रेक्षा से सुसज्जित भाषा-शैली ने जहाँ गद्य की भाषा में अनेक काव्य-गुणों का समावेश करा दिया, वहाँ उसकी अर्थद्योतना-

शक्ति, सरसता और प्रवाहमयता पर भी आघात किया। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' के नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' से—

"दामिनी—आप कहाँ रहते हैं?

माणवक—यह न पूछो। मैं संसार की एक भूली हुई वस्तु हूँ। न मैं किसी को जानना चाहता हूँ और न कोई मुझे पहचानने की चेष्टा करता है। तुमने कभी शरद् के विस्तृत व्योममंडल में रूई के महल के समान एक छोटा-सा मेघखंड देखा है? उसके देखते-देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक बल्लरी की नन्हीं सी पत्ती के छोर पर विदा लेने वाली श्यामल रजनी के शोकपूर्ण अश्रुबिंदु के समान लटकते हुए एक हिमकरण को कभी देखा है? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा? उसी मेघखंड या हिमकरण की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कब तक रहूँगा। मुझ से न पूछो। इत्यादि।"

इस तरह की भाषाशैली संगीत, कला और काव्यमयता की दृष्टि से तो अनुपम है, परन्तु सब प्रकार के गद्य में—विशेषतः जनता के सामने खेले जाने वाले नाटकों के गद्य में—इसका प्रयोग कहाँ तक समीचीन है, यह कहना कठिन है।

परन्तु प्रसाद की गद्य शैली केवल अलंकार-प्रधान शैली तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने मनोवैज्ञानिक स्थलों के निरूपण, प्रकृति-वर्णन और वातावरण के चित्रण में अत्यन्त सुन्दर, भावपूर्ण वर्णन शैली का भी प्रयोग किया है। प्रकृति के एक प्रलोभनपूर्ण वातावरण चित्र और उसका तारा (नायिका) पर प्रभाव नीचे के शब्दों में पढ़िये—

"उसने एक बार आकाश के सुकुमार शिशु को देखा। छोटे से चंद्र की हलकी चाँदनी में वृक्षों की परछाईं उसकी कल्पनाओं को

रंजित करने लगी। जूही की प्यालियों में मकरंद-मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं, और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था। कमर से झुकी हुई अलबेली बेलियाँ नाच रही थीं। मन की हार-जीत हो रही थी।

× × ×

तारा पँलग पर झुक गई। बसन्त की लहरीली समीर उसे पीठ से ढकेल रही थी। रोमांच हो रहा था; जैसे कामना-तरंगिनी में छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं। कभी वक्षस्थल में, कभी कपोलों पर स्वेद हो जाते थे। प्रकृति प्रलोभन से सजी थी और एक भ्रम बनकर तारा के यौवन की उमंग में डूबना चाहती थी। इत्यादि।"

वातावरण के चित्रण, परिपार्श्व की अवतारणा और नाद-ध्वनि की व्यंजना में यह शैली पूर्णतः सफल है। कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि में तो यह बेजोड़ है। यथा—

"वन्य-कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढँकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचनापूर्ण सुन्दर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देने वाली सुगन्ध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान-स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे-छोटे विश्राम गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति भाँति के सुस्वादु फल-फूल वाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम।"

[स्वर्ग के खँडहर में—आकाशदीप—पृ० ३१-३२]

परन्तु प्रसाद सुन्दर विवेचनात्मक एवं गंभीर आलोचनात्मक गद्य भी लिख सकते हैं। उनके निबन्ध इसका प्रमाण हैं—"कविता

के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देशविदेश की सुन्दरी के वाह्यवर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीति-कालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें वाह्य-वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्यस्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था।"

हिन्दी गद्य में भावुकता-प्रधान गद्य-गीतों की नई शैली के प्रवर्तक रायकृष्णदास हैं। द्विवेदीजी और उनके सहयोगियों में काव्य की मात्रा कुछ भी नहीं थी। नीरस, तथ्यप्रधान, पांडित्यपूर्ण वाक्य-खंड ही गद्य के सर्वश्रेष्ठ रूप समझे जाते थे। इस शैली में स्वाभाविक रूप से संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रधानता है। परन्तु उनके उर्दू शब्दों और मुहावरों को भी ग्रहण किया गया है जो हिंदी बन गये हैं। प्रादेशिक (बनारसी) शब्दों का पुट भी इनके गद्य में मिलेगा, परन्तु मुख्यतः इनका गद्य सरल, सुन्दर और सुगठित है जो छोटे-छोटे पदों में केवल साधारण संस्कृत शब्दों के प्रयोग से ही उच्च कोटि की अभिव्यंजना में सफल होता है।

'साधना' रायकृष्णदास की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें छोटे-छोटे गद्य-गीतों का संगठन है जो कहीं दैनिक जीवन के सरल व्यापारों और कहीं अन्योक्ति-द्वारा परोक्ष की अनुभूति को चित्रित करने में सफल हुए हैं। 'गीतांजलि' (१९११) के अँग्रेज़ी संस्करण की गद्यशैली की इनकी शैली पर स्पष्ट छाप है। वाक्यार्थ की अपेक्षा ध्वन्यार्थ को अधिक प्रधानता देने के कारण भाव सहजगम्य नहीं

है, परन्तु लेखक की लोकोत्तर-स्फूर्ति इन गद्य-गीतों में अत्यंत सफलता से प्रकाशित हो सकी है।

इन गीतों की गद्य शैली सब स्थानों पर एक-जैसी नहीं है। कहीं काव्यात्मक है, कहीं लक्षणाप्रधान, कहीं सीधी-सादी भाषा में जीवन के घरेलू चित्र खींचे गये हैं। काव्यात्मक शैली का एक उदाहरण देखिये—

"मेरे गीत आनन्द-सौरभ से बसे हुए हैं।

तुम्हारे पाद-पल्लव के स्पर्श से मेरा मन-अशोक लदबदा कर फूल उठता है और उसके बोझ से नत होकर आनंदामोद बगराने लगता है। वह आमोद, जिससे मैं स्वयं मत्त हो जाता हूँ।

तुम्हारा नखचन्द्र देखकर मेरा मानस रत्नाकर हो जाता है और अखण्ड आनन्द के गीत गाने लगता है। और तुम्हारी कृपा का क्या कहना! तुम उस पर पीयूषवर्षण करके उसे अमृतमय बना देते हो।

मित्र, भला जब तुम अपने करों में मेरे हृत्कमल को खोलते हो तब वह कैसे न खिलकर आनन्द-मरन्द बहावे और सारे सर को उसमें मग्न कर दे।

ऋतुराज, तुम कुसुमों के कोष और सौरभ के सागर से सज कर मेरे मनःपिक से मिलते हो। फिर वह आनन्द से पागल होकर पंचम-गान की धुन बाँध के अपने प्राण की पर्युत्सुकता को पंख दिये बिना कैसे रह सकता है!

मयूर तो मेघ को विलोक कर केवल इतना ही प्रसन्न होता है कि उसको अपने नृत्य और गीत से प्रकट कर देता है। पर इसका आनन्द इतना अपार है कि अपने गीत के नृत्य से उसका कुछ परिचय देने की चेष्टा कर के वह अपने को धन्य-धन्य समझता है।"

परन्तु लेखक सीधे-सादे रंग से भी महान सत्य को उद्घाटित कर सकता है और अपनी निरलंकार वाणी से वह पाठक के हृदय को और भी सरलता से छू लेता है। 'क्रय-विक्रय' शीर्षक गद्य-गीत में रायकृष्णदास कहते हैं—

"जिन मणियों को मैंने बड़े प्रेम से कृत्याकृत्य, सभी कुछ करके संग्रह किया था, उनको उन्होंने मोल लेना चाहा। यदि दूसरे ने ऐसा प्रस्ताव किया होता तो मेरे क्षोभ का ठिकाना न रहता। अपने शौक़ की चीज़ बेचनी ? कैसी उलटी बात है। पर न जाने क्यों उस प्रस्ताव को मैंने आदेश की भाँति अवाक् होकर शिरोधार्य किया।

मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा।

अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई।

उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला लोगे ? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने अपनी दूसरी मणि उनके सामने रखी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिये। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा ? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो, तब पूरा हो।

मैंने सहर्ष आत्मसमर्पण किया। तब वे खिलखिला कर आनन्द से बोल उठे—मुझे मोल लेने चले थे न ?

मैं गद्गद् हो उठा। आज परम मंगल हुआ; जिसे मैं अपनाना चाहता था उसने स्वयं मुझे अपना लिया।" वास्तव में यह शैली कवित्वमय शैली का अंतिम विकास है। गीतिकाव्य में जो माधुर्य होता है, जो चित्रचित्रण रहता है, नाद-ध्वनि और लय का जैसा समन्वय रहता है, वह सब इस शैली में है। इसी से इसे गद्य-गीति

शैली कहा जाता है। है तो गद्य, परन्तु पढ़ने से तो काव्य का आनंद आता है। रायकृष्णदास की 'साधना' का ही एक और उदाहरण लीजिये—

"संध्या को जब दिन भर की थकी माँदी छाया वृक्षों के नीचे विश्राम लेती है और पक्षीगण अपने चहचहे से उसकी थकावट दूर करते हैं, तथा मैं भी श्रांत होकर अपना शरीर पटक देता हूँ, तब तुमने मधुरगान गुनगुना कर मेरा श्रम दूर करके, और मेरे बुझे हृदय को प्रफुल्लित करके मुझे मोह लिया है !

वर्षा की रात्रि में जब प्रकृति अपने को सारे संसार से छिपाकर संभवतः अभिसार करता है, तब तुमने मृदंग के घोष में मेरी ही हृदय-गाथा सुना-सुना कर मुझे मोह लिया है।" [मोहन, साधना, पृ० १७]

गद्य-गीतों की इस भावुक शैली में योग देने वाले अनेक हैं। उनमें सब से अधिक सफल हुए हैं वियोगीहरि, चतुरसेन शास्त्री, मदन-मोहन मिहिर और दिनेशनंदिनी चोरड्या। वियोगीहरि ने वैष्णव भक्तों की विह्वल कातरता का समावेश कर इस शैली को भक्तों के पदों की परंपरा मे मिला दिया है। उनका 'प्रणय-उत्कंठा' शीर्षक यह गद्य-गीत देखिये—

"ऐ मेरे प्रेम, मेरी बात सुन ले, और फिर चला जा। देख, मैं कबसे इस निर्जन और नीरव वन में, इस अकेले ही वृक्ष के नीचे टक लगाए खड़ा हूँ।

दिन के तीनों पन चले गए, आँधी के प्रबल झोंकों से यह जीवन तरु जर्जरित हो गया, किंतु तेरी आशा से भूमि हरितवर्ण ही रही और यह मेरी अधीर उत्कंठा प्रवृत्ति के सामञ्जस्य से ओत-प्रोत हो गई।

आ, प्यारे ! घड़ी भर इस निकुंज-जीवन-कुटीर में विश्राम ले-ले। अपने अलौकिक मुख-सौन्दर्य सरोवर में विकसित नयनाम्बुज-मरंद का पान, इस विरह-दग्ध-श्याम भ्रमर जोड़ी को कर लेने दे।"

इस प्रकार की भावुकतामयी गद्य-शैली की परंपरा बराबर चली आती है और यह मुख्यतः बँगला गद्य की भावुक शैली का अनुकरण करती है। नाटक, उपन्यास और कहानी में इस शैली का व्यापक प्रयोग हुआ। विषय के अनुरूप थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यह शैली अत्यंत लोकप्रिय रही है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का यह भावचित्र देखिये—

"उसने कहा —'नहीं'
मैंने कहा—'वाह !'
उसने कहा—'वाह'
मैंने कहा—'हूँ ऊँ'
उसने कहा—'उँहुंक'
मैंने हँस दिया।
उसने भी हँस दिया।

अँधेरा था, पर बाइसकोप के तमाशे की तरह सब दीखता था। मैं उसी को देख रहा था। जो दीखता था उसे बताना असंभव था। रक्त की एक-एक बूँद नाच रही थी और प्रत्येक क्षण में सौ-सौ चक्कर खाती थी। हृदय में पूर्ण चंद्र का ज्वार आ रहा था। वह हिलोरों में डूब रहा था; प्रत्येक क्षण में उसकी प्रत्येक तरंग पत्थर की चट्टान बनती थी और किसी अज्ञात बल से पानी हो जाती थी। आत्मा की तंत्री के सारे तार मिले धरे थे, उँगली छुआते ही सब झनझना उठते थे। वायु-मंडल विहाग की मस्ती में झूम रहा था। रात का अंचल खिसककर अस्त-व्यस्त हो गया था। पर्वत नंगे खड़े थे और वृक्ष इशारे कर रहे थे। तारिकाएँ हँस रही थीं। चन्द्रमा बादलों में मुँह छिपा कर कहता था 'भई ! हम तो कुछ देखते-भालते नहीं।' चमेली के वृक्ष पर चमेली के फूल अँधेरे में मुँह नीचे झुकाये गुपचुप हँस रहे थे। उन्होंने कहा—'ज़रा इधर तो आओ !' मैंने कहा, 'अभी ठहरो !' वसु ने कहा,

'हैं! हैं! यह क्या करते हो?' मैंने कहा, 'दूर हो, भीतर किसके हुक्म से घुस आये तुम!' खट से द्वार बंद कर लिया। अब कोई न था। मैंने अघा कर साँस ली, वह साँस छाती में छिप रही। छाती फूल गई। हृदय धड़कने लगा। अब क्या होगा? मैंने हिम्मत की। पसीना आ गया था। मैंने उसकी पर्वा न की।

आगे बढ़कर मैंने कहा—'ज़रा इधर आना?'

उसने कहा—'नहीं'

मैंने कहा—'वाह'

उसने कहा—'वाह'

मैंने कहा—'हूँ ऊँ'

उसने कहा—'उँहुँक'

मैंने हँस दिया।

उसने भी हँस दिया।"

(प्यार, अंतस्तल, पृ० ४-५)

प्रेम का इस प्रकार का व्यंजना-प्रधान भावुक चित्र गद्य-गीत की शैली को अपनाए बिना असंभव था। इसमें उपमा उत्प्रेक्षा का आग्रह नहीं है, वरन् व्यंजनापूर्ण संवादों और भावपूर्ण वर्णनों द्वारा प्रेम की अन्यतम परिस्थिति का सुन्दर चित्रण है। यही नहीं, स्वयं प्रसाद की भाषा-शैली पर भी गद्य-गीत शैली का प्रसाद है—"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चंपा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे उसमें न थे। धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देख कर काँप गया। उसके मन में एक संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी रागरंजित संध्या थिरकने लगी। चंपा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दांत दस्यु ने

अपनी महिमा में अलौकिक एक वरुण-बालिका ! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता।"

[आकाशदीप, पृ० ८]

परन्तु जहाँ यह शैली भावुकता की सीमा का उल्लंघन कर जाती है वहाँ वह प्रलाप मात्र बन जाती है और अतिभावुकता (Sentimentalism) दोष से दूषित हो जाती है। उदाहरण के लिए वियोगीहरि का कालिन्दी-कूल का यह चित्र—

"आखिर वह रागिणी हुई क्या ! अलापने वाला कहाँ गया ? कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ ! सोचा था उस रागिणी की धवल धारा से अन्तःकरण पखारूँगा। गायक को देखकर यह निस्तेज दृष्टि सौन्दर्य सुधा से रंजित करूँगी। पर यह कुछ न हुआ। सुना क्या ? —उत्कंठित हृदय की धीमी प्रकंपन ध्वनि ! देखा क्या ?—अदृष्ट का धुँधला मान चित्र ! जान पड़ता है यह विश्वव्यापी अंधकार मेरी ही निराशा का प्रतिबिंब है। तो क्या वह मोहिनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त अंतर्नाद की प्रतिध्वनि थी ? राम जाने, क्या था ?"

(अंतर्नाद, पृ० ६)

अथवा आचार्य चतुरसेन शास्त्री का यह गद्यांश—"आशा ! आशा ! अरी भलीमानस ! ज़रा ठहर तो सही, सुन तो सही, कितनी दूर है ? मंज़िल कहाँ है ? ओर-छोर किधर है ? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता। क्या अंधेर है ! छोड़, मुझे छोड़। इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज़ आया। पड़ा रहने—मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना—ना—अब दम नहीं रहा—यह देखो, यह हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गए, साँस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी ? किस सब्ज़ बाग़ का झाँसा दिया था ! किस मृग-

तृष्णा में ला डाला मायाविनी ! छोड़, छोड़, मेरी जान छोड़ ! मैं यहीं पड़ा रहूँगा।"

[आशा—अंतस्तल—पृ० ४८]

इस प्रकार के ऊहात्मक वाक्य गद्य-गीति की सबसे बड़ी दुर्बलता है, परन्तु वह कलाकार लेखक का महान बल भी है—इसका प्रमाण यही है कि लगभग सभी उत्कृष्ट शैलीकारों के गद्य में गद्य-गीति की प्रचुर मात्रा है।

भाषा शैली के प्रयोगों और नवीन आविष्कारों के इतिहास में निराला का नाम भी सदा स्मरण रहेगा। निराला मूलतः कवि हैं और उनकी गद्य शैली में कविता के अनेक अंगों का होना स्वाभाविक है। परन्तु निराला के गद्य में काव्य तो हैं ही, सबसे बड़ी बात यह है कि उनकी वाक्य-योजना निराली है, पदविन्यास का नया ठाट है और उन्होंने लगभग प्रत्येक शब्द को नई कूँची से सँवारा है। उनकी गद्य शैली के अनेक रूप हैं। विषय और भाव-विकास के अनुरूप पर बराबर नये नये ढङ्ग से लिखते रहे हैं। 'प्रभावती' में उन्होंने प्रकृतिचित्रण के लिए बड़ी सुन्दर अलंकृत शैली का प्रयोग किया है परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण गति और मन के चित्र हैं—"गङ्गा के ठीक किनारे उच्च दुर्ग ऊपर दुर्ग खुला है। नीचे से साफ़ देख पड़ता है। वहीं से गङ्गा-वक्ष पर उतरने की सीढ़ियाँ हैं। प्रभावती वहीं, सोपानमूल पर, धीरे धीरे आकर खड़ी हो गई। रात का पहला पहर बीत चुका है। सारी प्रकृति स्तब्ध हो चली है। कुमार को सोचते हुए समझ कर यमुना ने कहा, कुमार, देखो, दुर्ग पर, सरदी उतरने वाली है—खड़ी तुम्हारी तरह कुछ सोच रही है।

राजकुमार ने देखा। यह दूसरी छवि थी। सर्वैश्वर्यमयी स्वर्ग

की लक्ष्मी भक्त पर प्रसन्न होकर स्वर्ग से उतरना चाहती हैं, मौन हिमाद्रि किरण विच्छुरितच्छवि गौरी को परिचारिकाओं के सङ्ग बढ़ा कर आकाश रूपशङ्कर को समर्पित करना चाहता है, विश्वप्लाविनी इस मौन ज्योत्स्ना-रागिनी की साकार प्रतिमा अपनी मूर्त झङ्कारों के साथ निस्पन्द खड़ी जीवनरहस्य का ध्यान कर रही है।

प्रभा उतरने लगी। अकूल ज्योत्स्ना के शुभ्र समुद्र में आकुल पदों की नूपुर-ध्वनि-तरंगें अपने प्रिय अर्थों से दिगन्त के उर में गूँजने लगीं। प्रभा का हृदय अनेक सार्थक कल्पनाओं से द्रवीभूत होने लगा। बार-बार पुलक में पलकों तक डूबती रही। सोपान-सोपान पर सुरंजिता, शिंजित-चरण उतरती हुई, प्रति पदक्षेप—झङ्कार—कंप कमल पर, चापल्य से लज्जित कमला-सी रुकती रही। उरोजों के गुण चिह्न—जैसे आये झीने चित्रित समीर-चंचल उत्तरीय को दोनों हाथों से पकड़े उड़ते अंचलों से, प्रिय के लिए स्वर्ग से उतरती अप्सरा हो रही थी।

यमुना मुस्कराती रही। राजकुमार देखते रहे। स्वप्न और जागृति के छायालोक में प्रति-प्रतिमा पञ्चेन्द्रियग्राह्य संसार में अत्यन्त निकट होकर भी जिस तरह दूर—बहुत दूर है, उसी तरह परिचित प्रभा का यह दूर सौन्दर्य प्राणों की दृष्टि में बँधा हुआ निकट—बहुत ही निकट है। उस स्वप्न को वे उतने ही सुन्दर रूप से देख रहे हैं, जितने से संज्ञा के अन्तिम प्रांत में पहुंच कर भक्त और कवि अपनी देही प्रतिमा को प्रत्यक्ष करते हैं। असदृश्य प्रभावती कितनी विशिष्टता से, प्रति अङ्ग की कितनी कुशलता से, कितनी स्पष्टता से प्रिय कुमार की ईप्सित दृष्टि में उतर रही है।

प्रभा नाव में बैठ गई। नाव खोलकर सेविकाएँ चढ़ गईं। एक ने पतवार सँभाली, दो रंगी बल्लियाँ लेकर बीच की ओर ले चलने का

उपक्रम करने लगीं। प्रभा वीणा सँभाल कर स्वर मिलाने लगी। इस रूप में साक्षात् शारदा देखकर राजकुमार की भाषा अपनी ही हद में बँध कर रह गई।"

कहीं-कहीं मनोविश्लेषण के उत्साह से कवि-कलाकार अत्यन्त कलात्मक, अत्यन्त प्रलम्ब वाक्य का निर्माण करता है, जिसमें समुद्र की लहरों की तरह, भाव-लहरी एक दूसरे को उभरातीं, टकराती, लहराती, बराबर गम्भीर होती आगे बढ़ती जाती है। साधारण गद्य-लेखक से इतना बड़ा और सार्थक वाक्य लिखना भी असम्भव है—"प्रभा एक पेड़ की छाँह में बैठी थी। घोड़ा बँधा हुआ। घोड़े की पीठ ही अब वासस्थल है। पुराना मन्दिर, जीर्ण प्रासाद या खुला प्रान्तर कुछ क्षण के लिए शयन-भूमि। खाना, पीना, रहना, प्रायः घोड़े की पीठ पर। इस समय अपने भावी कार्यक्रम की चिन्ता में तन्मय रहती है—किस उपाय से ग्रामीणों में शिक्षा का प्रचार होगा, बाहर रह कर भी प्राणों के भीतर पैठने का उत्तम मार्ग तैयार होगा, सर्वसाधारण के हित की किस तरह की धारा प्रखरतर होकर उन्हें शीघ्र वृहद् ज्ञान के समुद्र से ले चलकर मिलायेगी, साथ-साथ जनता को इस रीति के ग्रहण में किसी तरह का संकोच न होगा, बल्कि इससे लोगों में स्फूर्ति फैलेगी और परस्पर सम्बद्ध होने की सहृदयता दूर-दूर के भिन्न-भिन्न गाँवों और वर्णों के लोगों को बाँधेगी; हर वर्ण की अलग-अलग शिक्षा, हर वर्ण के मनुष्य को पूर्णता तक पहुँचायेगी; और जब कि हर शिक्षा अपनी प्रगति में दूसरी शिक्षाओं का सहारा लेती है, तब हर मनुष्य भी सापेक्ष होकर दूसरे मनुष्य का मूल्य समझेगा; भिन्न वर्ण के प्रति इस प्रकार घृणा का भाव न रह जायगा; सम्बद्ध होकर देश सच्ची शक्ति से प्रबुद्ध होगा; यह सफलता साधारण आनन्द की दात्री नहीं। उसमें प्रिय का जो है, वही यथार्थ मुक्ति के आनन्द का कारण हो सकता है।" जहाँ इस प्रकार की नागरिक

भाव से भरी सांस्कृतिक भाषा है, वहाँ यह ठेठ हिन्दी का ठाट देखिये—"कातिक लगते मुन्नी की सास आई। कुछ भटकना पड़ा। पूछते-पूछते मकान मालूम कर लिया। बिल्लेसुर ने देखा, लपक कर पैर छुए। मकान के भीतर ले गये। खटोला डाल दिया। उस पर एक टाट बिछाकर कहा, 'अम्मा बैठो।' खटोले पर बैठते हुए मुन्नी की सास ने कहा, 'और तुम खड़े रहोगे?' बिल्लेसुर ने कहा, 'लड़कों को खड़ा ही रहना चाहिये। आपकी बेटी हैं तो क्या? जैसे बेटी वैसे बेटा। मुझसे वे बड़ी ही हैं। आप तो फिर धर्म की माँ हैं। पैदा करने वाली तो पाप की माँ कहलाती है। तुम बैठो मैं अभी छन भर में आया।'" इस प्रकार की शैली हरिऔध की 'ठेठ हिन्दी' और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' की याद दिलाती है। बाद में 'चोटी की पकड़' में उन्होंने भाव और प्रकाशन में और भी गहरा सम्बन्ध निबाहा है—"बुआ विधवा हैं, मौसी भी विधवा। बुआ की उम्र पच्चीस होगी। लंबी सुतारवाली बँधी पुष्ट देह। सुढर गला, भरा उर। कुछ लम्बे मांसल चेहरे पर छोटी-छोटी आँखें, पैनी निगाह। छोटी नाक के बीचों-बीच कटा दाग़। एक गाल पर कई दाँत बैठे हुए। चढ़ती जवानी में किसी बलात्कारी ने बात न मानने पर यह सूरत बनाई, फिर गाँव छोड़ कर भग खड़ा हुआ। इज़्ज़त की बात, ज़्यादा फैलाव न होने दिया गया।" [पृ० २]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की कादम्बरी का पुनरुद्धार किया है। आधुनिक गद्य में यह शैली हृदयेश और प्रसाद की अलंकृत काव्यात्मक, ऐश्वर्यपूर्ण शैली की ही नई परम्परा स्थापित करती है। परन्तु यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली नहीं है। उनकी प्रतिनिधि शैली उनके आलोचना-ग्रन्थों और गम्भीर साहित्य विवेचना-सम्बन्धी लेखों में

मिलेगी। इसमें तत्सम शब्दों और पांडित्यपूर्ण वाक्य खण्डों की प्रधानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की गम्भीर भाषा शैली में कटूक्तियों और व्यङ्ग का पुट रहता था जो उसे सरस और सजीव बना देता था। द्विवेदीजी की शैली में व्यक्तिगत आक्षेपों और कटु वाद-विवादों को स्थान नहीं मिला है। इससे हास-परिहास और व्यङ्ग की सरसता और सजीवता उसमें नहीं है। परन्तु साहित्य-विवेचन के लिए यह शैली नितान्त उपयुक्त है। कबीर के काव्य और उनकी जीवन साधना पर विचार करते हुए द्विवेदीजी ने जो लिखा है, वह कदाचित् उनकी आलोचना का, शैली का सुन्दर उदाहरण होगा। वे कहते हैं—"कबीर ने जो समस्त बाह्य आचारों को अस्वीकार करके मनुष्य को साधारण मनुष्य के आसन पर और भगवान को 'निरपख' भगवान के आसन पर बैठाने की साधना की थी उसका परिणाम क्या हुआ और भविष्य में वह उपयोगी होगा या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। सफलता महिमा की एक-मात्र कसौटी नहीं है। आज शायद यह सत्य निविड़ भाव से अनुभव किया जाने वाला है कि सब की विशेषताओं को रखकर मानवमिलन की साधारण भूमिका नहीं तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, संप्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले। जब तक यह नहीं होगा तब तक अशान्ति रहेगी, मारा-मारी रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्द्धा रहेगी। कबीरदास ने इस महती साधना का बीज बोया था। फल क्या हुआ, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है।" आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने विश्वासपूर्वक गाया है—"जीवन में जो पूजायें पूरी नहीं हो सकीं

है, मैं ठीक जानता हूँ कि वे खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलने से पहले ही पृथ्वी पर झड़ गया है, जो नदी मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा खो बैठी है—मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवन में आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ, वह भी व्यर्थ नहीं हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता है, वे सब तुम्हारी वीणा के तार में बज रहा है। मैं ठीक जानता हूँ, ये भी खो नहीं गया है—

जीवने यत पूजा हलो ना सारा,
जानि हे जानि ताओ हय निहारा।
ये फुलना फुटिते झरेछे धरणीते,
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हय निहारा।
जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हय निमिछे,
आमार अनागत आमार अनाहत,
तोमार वीणा तारे बजिछे ता'रा"

कबीरदास की साधना भी न लोप हो गई है, न खो गई है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान हैं और जिसे अपनी दृष्टि पर अखंड विश्वास है उसकी साधना को करोड़-करोड़ काल भी झकझोर कर विचलित नहीं कर सकते—

जाके मन विश्वास है, सदा गुरू है संग।
कोटि काल झकझोरिहीं, तऊ न होय चित भंग॥

(स० क० सा० पृ० १८४)

इस प्रकार की आलोचना शैली केवल शैली मात्र न होकर

'साहित्य' बन जाती है। भावों और विचारों की अनेक झंकारों को आत्मसात कर आलोचक एक सुमधुर नवीन लय-ताल के साथ नया संगीत ही उपस्थित कर देता है और उसी के द्वारा आलोच्य-विषय खुलता है।

हिन्दी का गद्य केवल विचारात्मक और भावात्मक शैलियों पर ही समाप्त नहीं हो जाता। धीरे-धीरे ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में उसका प्रयोग हो रहा है और तदनुरूप नई-नई शैलियों का निर्माण। डा० धीरेन्द्र वर्मा की गद्य शैली में हम पहली बार वैज्ञानिक तथ्य प्रधान शैली से परिचित होते हैं। इस शैली में पांडित्य प्रदर्शन के लिए बड़े-बड़े तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं होता, परन्तु छोटे-छोटे वाक्यों में तथ्यों को इतने पास-पास इतने संगठित रूप में सजाया जाता है कि एक भी वाक्य निकाल लेने पर विचार विशृं-खल हो जाता है। लेखक एक-एक वाक्य और एक एक शब्द का इस सतर्कता से चयन करता है कि उसकी विचारधारा समझने के लिए सतत जागरूक रहना पड़ता है। गंभीर और साधारणतः सूक्ष्म होने पर भी वैज्ञानिक विवेचन की यह शैली साहित्य की मूल्यवान सम्पत्ति है। 'मध्य देशीय संस्कृति और साहित्य' पर विचार करता हुआ लेखक लिखता है—'किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। उसी सिद्धान्त के अनुसार अंग्रेज़ी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों को उन भाषा-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिंदी साहित्य के अध्ययन के संबध में भी कही जा सकती है। हिंदी

साहित्य के ठीक अध्ययन के लिये भी हिंदी भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।" इस अवतरण का एक-एक शब्द अपनी जगह पर इस तरह जड़ा हुआ है कि किसी भी प्रकार उसका हटाना संभव नहीं है। इसके लिए जिस वैज्ञानिक सतर्कता और शैलीगत संयम की आवश्यकता है, वह बहुत कम लेखकों में मिलती है। परन्तु जैसे-जैसे विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन बढ़ेगा और वैज्ञानिक विवेचन की शैली साहित्यकारों द्वारा ग्रहण की जायगी, वैसे-वैसे इस शैली का मान बढ़ेगा और उसका व्यापक प्रयोग होगा।

रहस्यवादी कवि के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी महादेवी वर्मा का आधुनिक गद्य-शैली के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। उनका गद्य तीन रूपों में हमारे सामने आता है और तीनों रूपों में वह महान है। 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं में वह गंभीर, साहित्यिक, विवेचनात्मक, तथ्यप्रधान गद्यशैली का प्रयोग करती हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' ग्रन्थ में उन्होंने विद्रोहात्मक, ओजपूर्ण, प्रवाहमयी शैली विकसित की है। परंतु उनका सबसे सुन्दर गद्य हमें 'चलचित्र' के रेखा चित्रों में मिलता है। इतना सहृदय, इतना सम्वेदनाशील, इतना काव्यात्मक—साथ ही सरल—हिंदी में पहिले नहीं आया। इन रेखाचित्रों में तत्समता नहीं है, पांडित्य भी नहीं है। दैनिक जीवन के अनेक चित्रों को दैनिक जीवन की भाषा में उभार कर सामने रख दिया गया है, परंतु बीच-बीच में अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण काव्यात्मक भाषा और चित्रप्रधान शैली का भी प्रयोग हुआ है। 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' की कविताओं में भाषा का जो गौरव है, जो चित्रोपमेयता है, जो नाद-सौन्दर्य है, वह सब सम्पत्ति 'चलचित्र' के गद्य को सहज ही में प्राप्त हो गई है। एक चित्र देखिये—"फागुन

के गुलाबी जाड़े की वह सुनहली संध्या क्या भुलाई जा सकती है। सवेरे से पुलकपंखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाये हुये सूर्य के सोने के शब्दवेधी बाण उनकी उन्मद गति में ही उलझ कर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे थे।

पश्चिम में रंगों का उत्सव देखते-देखते जैसे ही मुँह फेरा कि नौकर सामने आ खड़ा हुआ। पता चला, अपना नाम बताने वाले एक वृद्ध सज्जन मुझसे मिलने की प्रतीक्षा में बहुत देर से बाहर खड़े हैं। उनसे सवेरे आने के लिए कहना अरण्यरोदन ही हो गया है।

मेरी कविता की पहली पंक्ति ही लिखी गयी थी, अतः मन खिसिया सा आया। मेरे काम से अधिक महत्वपूर्ण कौन-सा काम हो सकता है, जिसके लिये असमय में उपस्थित होकर उन्होंने मेरी कविता को प्राण-प्रतिष्ठा से पहिले ही खंडित मूर्ति के समान बना दिया। 'मैं कवि हूँ' में जब मेरे मन का संपूर्ण अभिमान पुंजीभूत होने लगा तब यदि विवेक का 'पर मनुष्य नहीं' में छिपा व्यंग बहुत गहरा न चुभ जाता तो कदाचित् मैं न उठती। कुछ खीझी, कुछ कठोर-सी मैं बिना देखे ही एक नयी और दूसरी पुरानी चप्पल में पैर डालकर जिस तेज़ी से बाहर आई उसी तेज़ी से उस अवांछित आगन्तुक के सामने निस्तब्ध और निर्वाक् हो रही। बचपन में मैंने कभी किसी चित्रकार का बनाया कण्व ऋषि का चित्र देखा था—वृद्ध में मानो वह सजीव हो गया था। दूध से सफ़ेद बाल और दूध-फेनी सी सफेद दाढ़ी वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अंकगणित हो गया था। कभी की सतेज आँखें आज ऐसी लग रही थीं मानो किसी ने चमकीले दर्पण पर फूँक मार दी हो। एक क्षण में ही उन्हें धवल सिर से लेकर धूल भरे पैरों तक कुछ काली

चप्पलों से लेकर पसीने और मैल की एक बहुत पतली कोर से युक्त खादी की धुली टोपी देखकर कहा—आप को पहचानी नहीं। अनुभवों से मलिन, पर आँसुओं से उनकी दृष्टि पल भर को रो उठी, फिर काम के फूल जैसी बरौनियों वाली पलकें झुक आईं—न जाने कथा के भार से, न जाने लज्जा से।" परन्तु कवियित्री अत्यंत ओजपूर्ण और विवेचनात्मक गद्य भी लिख सकती हैं। इसी प्रसंग में—"स्त्री अपने बालक को हृदय से लगाकर जितनी निर्भर है उतनी किसी और अवस्था में नहीं। वह अपनी संतान की रक्षा के समय जैसी उग्र चण्डी है, वैसी और किसी स्थिति में नहीं। इसी से कदाचित् लोलुप संसार उसे अपने चक्रव्यूह में घेर कर बाणों से चलनी करने के लिये पहले इसी कवच को छीनने का विधान करता है। यदि यह स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि 'बर्बरो, तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार भी न देंगी' तो इनकी समस्या तुरन्त सुलझ जावें। जो समाज इन्हें वीरता, साहस और त्याग-भरे मातृत्व के साथ नहीं स्वीकार कर सकता क्या वह इनकी दैन्य भरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर पूजेगा! युगों से पुरुष स्त्री को उसकी शक्ति के लिए, सहन शक्ति के लिए ही दंड देता रहा है।"

तरुण आलोचकों में नगेन्द्र सब से बड़े शैलीकार हैं। वास्तव में हिन्दी आलोचना को भाषाशैली को उन्होंने एक अत्यंत आकर्षक और लोकरंजक रूप दे दिया है। साधारणतः उनकी शैली गंभीर, तथ्य प्रधान और वैज्ञानिक सतर्कता से पूर्ण है, परन्तु 'वाणी के न्यायमंदिर में' 'यौवन के द्वार पर' 'हिन्दी उपन्यास' आदि निबंधों और स्केचों में वे एक उत्कृष्ट कलाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। सिद्धान्तों और तथ्यों की गंभीरता को ग्राह्य बनाने

के लिए कहीं स्वप्न का वातावरण उपस्थित किया जाता है, कहीं संलापशैली को अपनाया जाता है, कहीं हास परिहास और करतल ध्वनियों के वातावरण का निर्माण किया जाता है। गंभीर विवेचना को इतना आकर्षक रूप पहले नहीं मिला था। हास-परिहास, व्यंग, चुहल और पांडित्य प्रधान गंभीर विवेचना का अद्भुत सम्मिश्रण लेखक के व्यक्तित्व के दो पहलुओं की ओर संकेत करता है। आलोचना जैसे नीरस, गंभीर विषय में नाटकीयता और चुहल द्वारा विविधता और कोमलता लाने का श्रेय नगेन्द्र की भाषाशैली को मिलेगा। उदाहरण के लिये—"मैंने देखा कि एक बृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। उसी समारोह के अन्तर्गत उपन्यास अंग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है, जिस में हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत हो गये कि जो साहित्य का कर्तव्य कर्म है वही उपन्यास का भी अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत देवकीनन्दन खत्री का इस विषय में मत-भेद था, परंतु जब व्याख्या के साथ आनन्दमयी विशेषण जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गये। स्वरूप पर काफ़ी विवाद चला। अंत में मेरे ही समवयस्क एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्ध भी नहीं होगा। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं, अच्छा हो यदि वे एक-एककर बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने साहित्य के विषय में अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए चलें।" (हिन्दी उपन्यास—एक स्वप्न)

प्रगतिशील तरुण आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान शीर्ष-

स्थान पर आते हैं। आधुनिक आलोचना-साहित्य विदेशी आलोचना-साहित्य से प्रभावित है और नई प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के लिये नये आलोचक को नया शब्दकोष बनाना पड़ता है। शिवदानसिंह चौहान की एक विशेषता यह है कि उन्होंने हिंदी गद्य को समाजवादी एवं मनोवैज्ञानिक आलोचना के लिये एक नया शब्दकोष दिया है। उनकी गद्य शैली तत्समता की ओर झुकती है और एक तरह से वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल की गद्यशैली की परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। वही पांडित्यपूर्ण, गंभीर, तथ्य-प्रधान शैली, वही विचारों से बोझल संस्कृत-गर्भित भाषा। नये आलोचकों में वे सबसे अधिक गंभीर हैं और उनकी भाषाशैली में नगेन्द्र की भाषाशैली की तरह मनोरंजकता नहीं है। जहाँ विषय उतना गंभीर नहीं, वहाँ उनकी शैली अपेक्षाकृत सरल है। कविता का जब से जन्म हुआ है उसकी व्याख्याएँ भी होती आई हैं। यह आवश्यक और अनिवार्य था। मनुष्य के भौतिक जीवन के विकास के साथ-साथ उसके मानसिक तथा भावात्मक जीवन में जो विकास हुए उनके स्पष्ट चिह्न कविता में भी अंकित होते गये और कविता का रूप बदलता गया। इस परिवर्तन के अनुरूप ही कविता के मान भी बदले हैं। उसके मूल्य नये अनुभव के मापदंड से आँके गये और कविता की युगीन व्याख्याएँ होती गयीं। पूर्वकालीन व्याख्याओं में सत्य का अंश है क्योंकि वे अपने समय की कविता की यथासंभव सही व्याख्याएँ हैं, और जिस प्रकार मनुष्य के विकास में एक क्रम और तारतम्य है, उसकी कविता में भी वह विकासक्रम स्पष्ट है जिसके कारण वर्तमान में प्राचीन समाहित है। उनका सूत्र कहीं टूटा नहीं है अर्थात् प्राचीन कविता में आज भी सौन्दर्य सुरक्षित है और वह हमारे भावों और रागों को छूकर स्पंदित करती है, या कहें कि उसकी श्रेष्ठ व्याख्याओं में भी सत्य

का अंश वर्तमान है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि आज मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, अरस्तू, अफलातून या कोलरिज और आर्नल्ड की व्याख्याओं से हम आधुनिक काव्य का मूल्यांकन करें।"

तरुण गद्य-शैलीकारों में डा० रघुवीरसिंह का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। 'शेष स्मृतियाँ' शीर्षक पुस्तक के पाँच निबन्धों में उन्होंने जिस प्रकार प्राचीन मुगल वैभव को सजीव, साकार और स्पंदित बना दिया है, वह अभूतपूर्व है। रवीन्द्रनाथ की 'क्षुधित पाषाण' नाम की प्रसिद्ध कहानी में जिस चित्रात्मक, भाव प्रधान, अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ है, इसे वे एक बड़े क्षेत्र में अपनाने में सफल हुए हैं। भावप्रेरित कल्पना का इतना सुन्दर चित्र आधुनिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा। भाषा की नई भाव-भङ्गी के अनुसार लक्षणा के नये प्रयोग उनकी शैली की विशेषता हैं। कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध और बीच-बीच में उखड़े हुए वाक्य, कहीं छूटे हुए शून्य स्थल, कहीं अधूरे छूटे प्रसंग, कहीं वाक्य के किसी मर्मस्पर्शी शब्द की आवृत्ति। कहीं प्रभाव वृद्धि के लिए वाक्यों का विपर्यय कर दिया गया है; कहीं वाग्वैचित्र्य का सुंदर और आकर्षक विधान है। अतीत का कल्पना चित्र सजाने और उल्लास, हर्ष और शोक के वातावरण के निर्माण में उनकी शैली नितान्त सफल हुई है। 'सीकरी' के वैभव के सम्बन्ध में लिखता हुआ कवि कहता है—"सर-सर करती हुई हवा एक छोर से दूसरे छोर तक निकल जाती है और आज भी उस निर्जीव सुनसान नगरी में फुसफुसाहट की आवाज़ में डरता हुआ कोई पूछता है—'क्या अब भी मेरे पास आने को वह उत्सुक है?' बरसों शताब्दियों से वह उसकी बाट देख रही है, और अब......रह गया है उसका वह अस्थि पिंजर। उस छिटकी हुई चाँदनी में तारागण टिमटिमाते

हुए मुस्कराकर उसकी ओर इङ्गित करते हैं—'क्या सुन्दरता की दौड़ इस अस्थि पिंजर तक ही है ?' और प्रतिवर्ष जब मेघदल उन खण्डहरों पर होकर गुजरता है तब वह पूछ बैठता है—'क्या कोई संदेशा भिजवाना है ?' और तब इन खंडहरों में गहरी निश्वास सुन पड़ती है और उत्तर मिलता है—'अब किस दिल से उसका स्वागत करूँ ! ' परन्तु दूसरे ही क्षण उत्सुकता भरी काँपती हुई आवाज़ में एक प्रश्न भी होता है—"क्या अब भी उसे मेरी सुध है ?"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पहिले दस वर्ष मुख्यतः भाषा संस्कार में लगे। महावीर-प्रसाद द्विवेदी द्वारा भाषा-संस्कार का काम समाप्त हो जाने और एक सामान्य हिंदी शैली के आविष्कार के बाद हिंदी लेखकों का ध्यान शैलियों की विविधता की ओर गया। पिछले ३५ वर्षों में गद्य में शिथिल शैली से लेकर सुष्ठ शैली तक अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ और अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग में जहाँ एक ओर अरबी-फ़ारसी प्रधान 'हिन्दुस्तानी' शैली चली, वहाँ दूसरी ओर ऐसी शैली चली जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का नितांत अभाव था। बीच की शैलियों में विदेशी शब्द अनेक अनुपात में मिलते हैं। पिछले १०-१५ वर्षों में शैली की दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग हुए हैं। इनका आरम्भ जैनेन्द्र ने किया। उन्होंने एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सतर्क, प्रयासपूर्ण और अहम्-प्रधान शैली का आविष्कार किया। उधर निराला ने गद्य-शैली को काव्यतत्वों से अलंकृत किया और वाक्य-योजना के कलात्मक प्रयोग किये। गद्य-शैली के इन नवीन-तम प्रयोगों में अज्ञेय, पहाड़ी, नगेन्द्र, महादेवी और रघुवीरसिंह इत्यादि की शैलियाँ हैं। इन नवीन प्रयोगों के मूल में कला और चमत्कारप्रियता की भावनाएँ ही नहीं हैं। आज का लेखक अपनी

अनुभूति के प्रति अधिक से अधिक सच्चा होना चाहता है। इसी-लिये वह अभिव्यंजना के नये-नये प्रयोग करता है और नई-नई शैलियाँ गढ़ता है। आज हमारे दैनिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अनेक नये अंगों का समावेश हो गया है और मनुष्य का मन ज्ञानविज्ञान के अध्ययन के द्वारा अनेक रूपों में खुलने-मुँदने लगा है। इसी से आज का कहानीकार, कथाकार नाटककार और निबंध लेखक अपनी शैली के सम्बन्ध में जागरूक होना आवश्यक समझता है। यह स्पष्ट है कि पिछले सवा सौ वर्षों में शैली की दृष्टि से बड़ा विकास हुआ है। 'रानी केतकी की कहानी' में इंशा ने तुकांतपूर्ण शैली का प्रयोग किया है—"डोमिनियों के रूप में सारंगियाँ छेड़-छाड़ सोहेलो गाओ। दोनों हाथ हिला के उँगलियाँ नचाओ। जो किसी ने न सुनी हो, वह ताव-भाव वह चाव दिखाओ; ठुड्डियाँ गुनगुनाओ। नाक भवें तान-तान भाव बताओ, कोई छूट कर न रह जाओ। आतियाँ-जातियाँ साँसे हैं, उसके ध्यान के बिना सब फाँसें हैं।" 'नासिकेतोपाख्यान' की कथावाचक पंडिताऊ शैली देखिये—"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर जौन-जौन कार्य किए सो जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र-बालक; स्त्री, स्वामी वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं...।" १८२६ ई० के 'उदंतमार्त्तंड' पत्र में हम शैली का प्रारंभ रूप ही पाते हैं—"उस समय बड़ा भूचाल होने से गंगातट के बहुत से घर-द्वार भी ढह पड़े थे उसी में हुगली के पास के गोल घाट के गाँव में दो सौ घर एक बेर मिट्टी में मिल गए और अँग्रेज़ी गिरजा भी इसी भूचाल में गिर तो न पड़ा, मिट्टी में बैठ गया और उस समय के लोगों ने लेखा किया था कि इसमें समझ पड़ा कि जहाज औ सुलुप औ नाव जो डूबे बीस हजार से कम न होंगे, ए कहाँ गए उसका कुछ

ठिकाना उस समय में लोगों को नहीं मिल सका......।" 'बुद्धि प्रकाश' (१८५२) में हमें पहली बार भाषा-शैली का सुष्ठ रूप मिलता है—"स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीति यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किये हैं केवल विद्या की ही न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं; और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है, यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावास्था में लड़कों को भूल-चूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखावें।" परंतु व्यापक रूप से ऐसी सरल और सौष्ठव-पूर्ण सरल हिंदी शैली का प्रयोग नहीं हुआ और लक्ष्मण-सिंह और शिवप्रसादसिंह की दो विरोधी शैलियों ने सरल गद्य-शैली के विकास की गति रुद्ध कर दी। 'कवि वचन सुधा' (१८६७) में भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा की—"बड़ौदा के महाराजा ने जैपुर के महाराज को भी जीत लिया और महाराज जैपुर ने नृत्य किया था और इन्होंने नृत्य और गान दोनों क्रिया कीं। किसी पहलवान को साठ हजार रुपये देने के उत्सव में यह रंगसभा नियत हुई थी। बहुत से अँग्रेज़ इसमें आये थे। दो दिन तक यह रंगसभा नित्य होती थी..."। परन्तु अपनी प्रसिद्ध 'हरिश्चंदी शैली' को वह 'हरिश्चंद मैगज़ीन' (१८७३) के द्वारा ही स्थापित कर सके।

इसके बाद तो हिन्दी भाषा और शैली का विकास बड़ी द्रुतगति से हुआ। 'परिशिष्ट' में जो उद्धरण दिये गए हैं वे विशेषतया भारतेंदु (१८५०-१८८५) से लेकर शिवदानसिंह चौहान (१९१८—) तक की विभिन्न शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पिछले ७५ वर्षों में हिंदी शैली का इतना विकास हुआ है और शैलियों में इतनी विभिन्नता एवं विविधता आई है कि सभी शैलियों का उदाहरण देना संभव नहीं है।

परिशिष्ट

हिन्दी समाचार पत्रों द्वारा हिन्दी-गद्य-शैली का विकास

उदन्त मार्त्तंड [१८२६]

श्रीमान् गवर्नर जनरल बहादुर का सभा-वर्णन

अँग्रेज़ी १८२६ साल १६ में कम्पनी अँग्रेज़ बहादुर को ब्रह्मा के बीच में परस्पर संधि हो चुकने के प्रसंग से यह दरबार शोभनागार होके श्री लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर जनरल बहादुर के साक्षात् से मौलवी महम्मद खलीलुद्दीन खाँ अवध बिहारी के ओर से वकालत के काम के प्रसंग के सातपारचे खिलअत ओ जिगा सरपेंच जड़ाऊ मुक्ताहार ओ पालकी झालरदार जो महाराज सुखमयी बहादुर के संतति राजा शिवचन्द रायबहादुर ओ राजा नृसिंहचन्द रायबहादुर राज्य को बहादुरी मिलने के प्रसंग से सात-सात पारचे की खिलअत जिगा सरपेंच जड़ाऊ मुक्ताहार ढाल तलवार ओ चार घोड़े की सवारी की अनुमति ओराय-गिरधारीलाल बहादुर ओ मिर्जा मुहम्मद कासिम का नवाब नाजिम बहादुर के विवाह के प्रसंग से ६-६ पारचे की खिलअत जिगा सरपेंच जड़ाऊ ओ कृपाराम पंडित नवाब फैज महम्मद खाँ बहादुर के ओर से पुरीवकालत के पद होने के प्रसंग से दोशाला गोशवारा जीमे अस्तीन सरपेंच जड़ाऊ पगड़ी ओ मृत विश्वम्भर पंडित के स्त्री के एकटिंग वकील देशीप्रसाद तिवाड़ी दोशाला महम्मद सईद खाँ साहिब ओ राजा भूपसिंह बहादुर.......के एक एक हार से भूषित ओ कृतकृत्य हुए ओ.......के रईस के वकील शिवरख ने श्री श्री गवर्नर जनरल

बहादुर को साक्षात्कार इस मन्धि को बधाई की कविता भेंट धरी औ नर-श्रेष्ठ कविता का भाव बूझे पर रीझे ।

बंगदूत [१८२९]

जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य है, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्म परायण श्री सुब्रह्मराय सास्त्री जी ने जो पत्र सांग वेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप उठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययहीन मनुष्यों के स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।

बुद्धिप्रकाश [१८५३]

स्त्रियों की शिक्षा का विषय

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किये हैं केवल विद्या ही की न्यूनता है । जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है, पुरुष से नहीं हो सकता। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूल-चूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखावें। यह सत्य है कि स्त्रियाँ बालक को अपनी छाती से दूध पिलाती हैं, परन्तु उन्हें चाहिये कि अपनी बुद्धि से उसकी आत्मा को भी पालें और मनुष्य बनावें और जिसमें ऐसा बड़ा कार्य सिद्ध होता है उसे उचित नहीं है कि आप विद्या से रहित रहें और अपने अन्तःकरण को शुद्ध न करें। जो स्त्री कि विद्या से विहीन है वह बालकों के चित्त रूपी क्षेत्र में विद्या का बीज कैसे बो सकती है और उनके आगे की बुद्धि का कारण किस रीति से हो सकती है।

(भाग २, सं० ३५ बुधवार, ३१ अगस्त, १८५३)

कवि-वचन-सुधा [१८६७]

(भाग १, संख्या ६, सं० १९२६ आश्विन् शुद्ध १५)

बड़ौदा के महाराज ने जयपुर के महाराज को भी जीत लिया। महाराज जयपुर ने केवल नृत्य किया था और इन्होंने नृत्य और गान दोनों किया को। किसी पहलवान का साठ हज़ार देने के उत्सव में यह रंगसभा नियत हुई थी। बहुत से अँग्रेज इसमें आये थे। दो-तीन दिन तक यह रंगसभा नित्य होती थी। भोजन और नृत्य गानादिक से महाराज ने सब को अत्यंत सन्तुष्ट किया। जिस समय महाराज जाने को खड़े हुए सब लोग बड़े आश्चर्य से उनका मुख अवलोकन करने लगे और उनको आश्चर्य हुआ कि महाराज को दंड मुगदल से किस समय अवकाश मिली जिससे उन्होंने यह गुण सीखा...।

[गुजरात अखबार]

पुनर्विवाह

जगान्मित्र लिखता है कि पद्मपुराण के दिवोदास महाराज का जो लोग उदाहरण देते हैं उन्हें केवल भ्रम है। मैंने पद्मपुराण देखा तो निश्चय हुआ कि उनकी दिव्य कन्या के विवाह समय में पति मर गया, जैसा आगे के श्लोकों में निश्चित है।...

कार्तिक स्नान

यह आश्विन की पत्रिका है इस हेतु मैंने उचित समझा कि कार्तिक स्नान का कुछ समाचार और अत्याचार प्रकाशित करूँ। निश्चय है कि इस पर हाकिम लोग मुख्यतः हमारे नगर के परम धार्मिक कोतवाल साहब अवश्य दृष्टि करें........।

भारत-मित्र [१८७८]

जयोऽस्तु सत्य निष्ठानां भेषां सर्वे मनोरथा!

भारत मित्र

बड़े आश्चर्य की बात यह है कि आज तक ऐसा कोई समाचार

नहीं प्रचारित हुआ जिससे हियां के हिंदुस्तानी लोग भी पृथ्वी के दूसरे लोगों की तरह अपने अक्षर और अपनी बोली में पृथ्वी का समस्त घटना को जान सकें। क्या यह बड़ा पछताव की बात नहीं है जब कि इस १६१० सदी में बंगाली तथा अन्यान्य जाति के आदमी अपनी अपनी बोली में ज्ञान में दिन दिन उन्नत हुए जाते हैं और हमारे हिंदुस्तानी भाई केवल अज्ञान खटिया पर पैर फैलाये हुए पड़े हैं और ऐसा कोई नहीं जो इनको उस खटिया पर से उठा के ज्ञान की किरण उनके अंतःकरण से करे। बहुत दिनों से हम आशा करते थे कि कोई विद्वान बहुदर्शी आदमी इस अभाव को दूर करने की चेष्टा करेंगे परन्तु यह आशा परिपूर्ण न हुई।

इस आशा के परिपूर्ण न होने से और बहुत से हिन्दुस्तानियों को सांसारिक खबर जानने के लिए बंगालियों का मुँह ताकते देख कर हमारे चित्त में यह भाव उत्पन्न हुआ कि जिसको हमारे हिन्दुस्तानी और मारवाड़ी लोग अच्छी तरह पढ़ सकें और समझ सकें तो हमारी समाज की अवश्य उन्नति होगी........।

(भाग १, १७ मई १८७८)

सार-सुधानिधि (१२ सितम्बर, १८७८)

'सार-सुधानिधि' का अनुष्ठान-पत्र

कलकत्ता हिन्दुस्तान की राजधानी है। इसके प्रधान रहने वाले बंगाली हैं, परन्तु राजधानी और वाणिज्य व्यापार का प्रधान नगर होने के कारण इसमें (कलकत्ते में) अंग्रेज़, यहूदी, पारसी, दक्षणी, बर्मी, चीना आदि बहुत जाति के लोग रहते हैं और वाणिज्य व्यापार के लिए मारवाड़ी, देशवाली और बम्बई वाले आदि हिन्दुस्तानी भी कुछ कमती नहीं हैं और व्यापार भी ये लोग बहुत करते हैं यहाँ तक कि इन्हीं लोगों से कलकत्ते के व्यापार की विशेष

उन्नति दिखाई देती है। परन्तु दुःख का विषय है कि ये लोग इतना वाणिज्य व्यापार करते भी हैं तो भी एक सामयिक हिन्दी भाषा का प्रधान समाचार-पत्र के न रहने से हरकत हुआ करती है, क्योंकि ये लोग प्रायः साधारण हिन्दुस्तानी लिखने-पढ़ने के और कुछ भी नहीं जानते और ऐसी बहुत सी बातें हैं कि उसके नहीं जानने से विशेष हानि होती है, और इसलिए इन लोगों को अंग्रेज़ी जानने वालों का मुँह निहारना पड़ता है। उससे खरच भी भरपूर होता है और काम भी पूरा नहीं होता। इसका ये कारण है कि जिसके बिना इनको उपस्थिति हानि होती है उसी को पूछ लेते हैं। इसके सिवाय और न तो पूछते हैं और न जानते हैं, और ये तो निश्चय है कि हिन्दुस्तानी और मारवाड़ी ये भी नहीं जानते कि ये कौन-सा समय है और इस काल का सम्योचित व्यवहार क्या है और राजा-प्रजा का क्या सम्बन्ध है, और वह कौन से काम हैं कि जिन कामों के करने से धन, मान, यश और राजा-प्रजा का घनिष्ट सम्बन्ध आदि फल लाभ होते हैं। निःसन्देह ये सब बातें तो समाचार-पत्रों से जैसी सहज जानी जाती है वैसा तो और कोई भी उपाय नहीं है। इसलिये कई एक महात्माओं की ऐसी इच्छा है कि एक हिन्दी भाषा के समाचार-पत्रका ऐसा प्रचार होना चाहिए कि जिससे साधारण सब लोगों का उपकार होय और ऐसे-ऐसे विषय उसमें रहें कि जिसके पढ़ने से थोड़े ही में विशेष ज्ञान हो कर स्वदेशियों की उन्नति होय।

इस प्रकार का समाचार-पत्र यदि सर्वांग सुन्दर किया जाय तो उसमें दिन कम से कम तीन (फर्मास्टाल) होना चाहिए क्योंकि उसमें धर्मनीति, राजनीति, समाज नीति, और पदार्थ विद्या-रसायन विद्या आदि दर्शन शास्त्र, वैद्यशास्त्र और वाणिज्य व्यापार विषय के प्रबंध, और अनेक प्रकार की खबरें; ये सब विषय उदारता में रहने चाहिए।

ये सब विषय लिखना कुछ सहज नहीं है और न एक आदमी का काम है जो लिख ले, क्यों कि ऊपर कहे हुए विषयों में से एक-एक विषय ऐसे हैं जो दो-दो, चार-चार, दश-दश, बारे-बारे बरस पढ़े और सीखें अच्छी तरह नहीं जाने देते इसलिए जिन लोगों ने अत्यन्त परिश्रम करके अपने परिश्रम और विद्या का फल जो अपनी-अपनी समझ है वह साधारण सब लोगों के हित के लिए साधारण सरल हिन्दी भाषा में लिख के इस पत्र में प्रकाश किया करेंगे॥ अर्थात् यथासाध्य सार सुधानिधि की सहायता करेंगे।

(वही, 'साहित्य,' १३ जनवरी, १८७९)

जिस तरह से सर्वांग सुन्दरी अभिनेतृ नटी बहुत प्रकार के वेश में अभिनय दिखा कर रंगभूमि स्थित दर्शकों के हृदय में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न भाव उदय और क्षण-क्षण में उनकी चित्र-वृत्तियों को अपनी नाट्य कौशल से नये-नये और अनोखे भावों की तरफ खींचती है इसी प्रकार भाषा भी कभी मोहिनी रूप धारण कर कोमल कृशांगी नर्तकी की तरह अंगभंगी और कटाक्षपात द्वारा तरुण गणों के चित्त को अतिशय चंचल करती है और कभी राम-नर्वासित साता अथवा कंदर्प विरहिणी रती की न्याई अनर्गल अश्रु-वर्षण द्वारा मनुष्यों के हृदय को अतिशय व्यथित करती है, और कभी विचित्र रूप धारण कर कौतुक का वह वेश और हास्यवर्द्धक प्रसंगों से बालकों के हास्य को वर्द्धित करती है और कभी कोपविजृम्भिता, करालवदना कालान्तकारिणी प्रचन्ड मूर्ति चण्डी के सदृश उग्ररूप से वीर पुरुषों के हृदय को प्रोत्साहित कर समराग्नि प्रज्वलित करती है, फिर कभी घृणा उत्पादक क्लेशपूर्ण शरीर से सम्मुखी हो मनुष्यों के चित्र में घृणा उपजावे है, और कभी जटा कमण्डल, शोभिता भस्मवल्कलधारिणी शान्त स्वरूप तपोवन वासिनी-सी हो कर मनुष्यों को भक्ति और प्रेम सुख का आस्वादन करावे है; इसी

प्रकार से कभी स्वभाव सुन्दर मधुर हासिनी बालिका के सदृश अस्फुट भाषिणी, कभी ज्ञान और नीति गर्भित उपदेश देने वाली पूजनीया वृद्धा की सदृश होकर भक्ति आनन्द विस्मय शोक क्रोध भय प्रभृति को मनुष्यों के हृदय में स्थान दान करती है।

(वही, वसन्त ऋतु, २१ अप्रैल, १८७६)

हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका

(१० फिब्रुअरी, १८७६)

उत्साहावलम्बन प्राप्ति

धन्य हैं भगवान करुणानिधान जगदीश्वर जिनकी शक्ति से सुमेरु का सर्वप्रधान पहाड़ राई और सरसों सरीखा छोटा हो जाता है। जिनकी शक्ति से पहिले जंगल ऊसर भूमि स्वर्ण तुल्य भारत भूमि अनिर्वचनीय शोभा को प्राप्त हुई थी, और फिर वही भारत-भूमि की अब क्या अवस्था हो गई है। जिस देश के लोग एक समय जगत मान्य और जगत-गुरु होकर विद्या, बुद्धि और सभ्यता के दृष्टान्त हुए थे, अब उसी देश के लोग पृथ्वी के और और खंडों के अपेक्षा बलहीन, विद्याहीन, बुद्धिहीन, और सभ्यताहीन कहलाये हैं।

(सम्पादकीय)

आनन्द-कादम्बिनी (१८८४)

परिपूर्ण पावस

जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग-ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा, भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित हुई, मानो मारे मोद के रोमांच अवस्था को प्राप्त भई। सुन्दर

हरित पत्रावलियों से भरित तरुजनों की सुहानी लतायें लिपट-लिपट मानों मुग्ध मयंका मुखियों को अपने प्रियतमोंके अनुरागालिंगन की विध बतलाती। इनसे युक्त पर्वतों के शृंगों के नीचे सुन्दरी परी समूह स्वच्छ श्वेत जल प्रवाह ने मानों पारा की धारा और बिल्लोर की ढार के श्यामलता की झलक दे अलक की शोभा लाई है। बीचों बीच माँग को काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुम्बुल अर्थात् हंसराज की जटाओं का फैलना बिथरी हुई लताओं का लावण्य का लाना है।

(१८८५)

[वही, स्थानिक सम्वाद]

दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल चिरकाल पर्यन्त बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन 'संकेत' अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख के रेल-पेल और कभी उसी पर सुख की कुलैल है।

(वही, ना० ४ मय १,१९०२ ई० भाद्र और आश्विन सं० १९५९ वि०)

पत्रिका का पुनर्प्रादुर्भाव और उसका आरम्भाख्यान

धन्य-धन्य उस परब्रह्म सच्चिदानन्दघन को कि जिसकी कृपा वारिबिन्दु वर्षा से आनन्द प्रमत्त हो अचानक आज फिर यह मन मयूर उत्साह आलम्बन कर आनन्द कादम्बिनी के आनन्द विस्तार लालसा से थिरकने लगा, और बिना किसी सोच-विचार के लेखनी चातक बन चहँकार चली कि मेरे प्यारे रसिको! आओ आज के समागम चिर वियोग दुःख को भूलें, और बहुत दिनों से मानवती बैठी वार्ता वधूड़ी के आरम्भ घूँघट को खोल उसके आनन्दमन्द

स्मित का स्वास्थ्य अनुभव करें कुछ अपनी बीती सुनायें, और कुछ तुम्हें भी सुनाने का अवसर दें ।

[वही, माला ४, मेघ १]

अंकुर और उषा मन्दिर

सहयोगी हिन्दी बंगवासी लिखता है कि कम्बोडिया श्याम देश के पास है। वहाँ अंकुर नाम एक प्राचीन हिन्दू राजधानी निकल पड़ी है। पर इस समय वहाँ एक भी हिन्दू नहीं है। इसी तरह आसाम देश के इस पार जंगली डाफलों के देश में ब्रह्मपुत्र की घाटी पर गोहारी और तेजपुर के बीच राजा नलि के पौत्र बाणासुर की पुत्री उषा का बड़ा भारी मन्दिर निकला है। डाफला लोग हिन्दू नहीं हैं, पर उनके जंगलों में यह उषा का मन्दिर पक्का खड़ा है। न जाने अभी कहाँ-कहाँ भारत की प्राचीन कीर्ति लुप्त पड़ी है।

[वही, माला ७, मेघ १, २,१६०७]

नवीन वर्षारम्भ

धन्य उस लीलामय जगदीश्वर का विलक्षण व्यापार, जिसका कहीं से कुछ व्यापार नहीं लखाता, न कहीं से किसीप्रकार यह समझ में आता कि कब, कहाँ से किस भाँति पर क्या कर दिखवायेगा और किसे कहाँ से कहाँ पहुँचायेगा। क्यों और किस प्रकार उसका कौन सा कार्यारम्भ होगा और क्या करनेवालों से कब क्या करा देगा। × × वैसे ही यद्यपि एक ही सनातनधर्म की पताका इस पृथ्वी पर उड़ती दिखाई पड़ती थी, किन्तु बात की बात में वह बात जाती रही और दूसरी ही बात बहना आरम्भ हुआ।

भारतोद्धारक (मासिक पत्र, १८८४)

भारतोद्धारक का मुख्योद्देश मातृभाषा (देवनागरी) हिन्दी

के प्रचार करने का है हमारे तन-मन से धुनि लगी हुई है कि किसी प्रकार से हिंदी महारानी का गौरव बढ़े अर्थात् जिस प्रकार से हमारी नागरी सर्वगुण आगरी के शील स्वभाव का शिक्षा कमीशन ने अनादर कर इसको रसातल भेजना ठाना है अब हमारी भी यही टेक है कि जहाँ हिन्दी का स्वेद बिन्दु पड़े हम अपना रक्त देने को उपस्थित हों।

क्या यह शोक और महाशोक की बात नहीं है ? कि हमने अपना कलेजा निकाल-निकाल, सिर पीट-पीट और ढोल बजा-बजा कर कह दिया कि हमारी बोली हिन्दी, हमारे बाप-दादों की बोली हिन्दी। उर्दू के आशिक जो झूठी टाँय-टाँय कर शीन के शड़ापे बाहर ही उड़ाये घर में परदे के भीतर उनकी बीबियों की बोली हिन्दी। घर रूपी बिलें सर्प रूपी शीन के शड़ापी बहुधा करके चित्रगुप्ती बाहर ही उर्दू के खती अंत को उनकी भी बोली हिन्दी। विशेष क्या कहें ? इस देश की बोली हिन्दी। अक्षर इस देश के हिन्दी। परन्तु न जाने शिक्षा कमीशन ने इसको क्यों टाल दिया। हम प्रकाश्य कर कहते हैं कि यह अन्याय शिक्षा कमीशन में किसी धार्मिक हिन्दू के मेम्बर न होने से हुआ है, अन्यथा ऐसा अन्याय कदापि न होने पाता अह ह ह!!! पाठकगण कहिये।

(भाग १, सं० १, १८८४)

लो आज हिन्दी की अंतिम बारी है। इस दिसम्बर मास में हिन्दी उद्धारणी सभा प्रयागराज में जुड़ने की बारी है। कहाँ अब हिन्दी के रसिकों ने क्या विचारी है। सुहृद पाठकगण! यही अवसर है हिन्दी के न्यायालयों में प्रवेश कराने का, यही समय है हिन्दी के उद्धार कराने का, यही अवसर है दुखिया हिन्दी को फाँसी से बचाने का, यही अवसर है अपनी एकयता के दिखाने का, और यही समय है अपने पुरुषाओं के नाम उजागर अर्थात् उनकी कीर्तियों के प्रकाश कराने का,

जो इस अवसर और ऐसे समय को हाथ से नहीं खो बैठे तो बस यही समझना चाहिए कि हिन्दुओं का नाम डूबा, और सारे ग्रन्थों पर पानी फिरा। बस फिर क्या रहा ? इतके रहे न उतके। एक तो हम हिन्दू वैसे ही दिन पर दिन नीचे पर नीचा देखते जाते हैं जो इस कार्य में भी हम पूरे न उतरें और आलस्य ग्रसित रहे तो फिर आँखें ऊँची करना हमको दुर्लभ हो जायगा। इसलिये हिन्दी के चाहकों ! हे मातृ-भाषा के प्रेमियों और हे सर्वसमाजों के अधिकारियो ! शीघ्र तन मन धन से हिन्दी उद्धारिणी सभा की सहायता कर अपनी सभा का कर्तव्य कर दिखाइये और श्रीयुत काशीप्रसाद सम्पादक हिन्दू समाज इलाहाबाद के पते से पत्र भेज कर उनके उत्साह को बढ़ाइये।

(भाग २, सं० ६, १८८२)

गो-धर्म-प्रकाश

(जुलाई १८८६, काशी)

गो-रक्षा का उपाय

इस बात को भारतवासी मात्र जानते हैं कि इस देश में जैसा मान्य गौ का था और अन्य किसी धन का नहीं था क्योंकि भारतवासियों के बल और बुद्धि का कारण केवल गौ ही मालूम होती है क्योंकि भारतवासी अधिक दयालु चित्त और न्यायकारी होने के कारण मांस नहीं खाते थे परन्तु सब देश वालों से बलवान होते थे उनमें जो पराक्रम था और वीरता उसका कारण केवल गौ का दुग्ध और घृत ही था क्योंकि घृत में असार भाग अत्यन्त ही स्वल्प है और जिससे रुधिर और वीर्य बनता है वह सार भाग अधिक होता है। इसलिए भारतवर्ष में खेती भी होती है। इसके अतिरिक्त पारिमार्थिक पुन्य का कारण भी गौ ही थी। देखिए गौ के घृत से ही यज्ञ और होम किये जाते थे और विद्वानों को गोदान दिये जाते थे जब कि गऊ इस लोक

और परलोक में अत्यन्त सहाय करती है तो उसको माँ के समान न मानना महाकृतघ्नों का काम नहीं तो किसका है ?

सनातन-धर्मोपदेश मासिक

(फर्रुखाबाद—धर्म सभापत्र १८८७)

हम अनेकानेक धन्यवादपूर्वक समस्त भारतवासी प्रिय पुरुषों को विदित करते हैं कि भारत महामंडल सभा के पत्र ने इस सभा को सुशोभित किया; तिस्से समस्त सभा के मेम्बरों को आत्मानन्द प्राप्त हुआ, उसके प्रत्योत्तर में कोटिशः धन्यवाद श्रीमान् दीनदयाल शर्मा सिक्रटरी महामण्डल सभा को देते हैं। और उस पत्र द्वारा सूचित हुआ कि भारतवर्ष के मध्य दो सौ के अनुमान धर्म सभा नियत हो गई— अहः ऐसी शुभवार्त्ता के सुनने से हमारा हृदय अति प्रफुल्लता को प्राप्त हुआ। हम जानते हैं कि प्रभु परमात्मा ने अब हमारे भारतवर्ष की दुर्दशा निवार्णार्थ भारतवासियों के हृदय में धर्मांकर प्रवेश किया है क्यों न हो वे सर्वशक्तिमान ऐसे ही दयालु हैं। यथा॥ यदायदाहि धर्मस्य॥

(माह अगहन, १८८७, भाग १, नं० १)

सुगृहिणी

(सम्पादिका-हेमन्त कुमारी, १८८७

नारी-धर्म

(तीसरी संख्या से आगे)

विद्या और धर्म में सुशिक्षता होने से और जब उमर चौदह बरस से अधिक हो जाय तब वे अपना वर आप ही पसन्द कर सकती हैं, परन्तु पिता-माता की सम्मति बिना ये विवाह नहीं कर सकतीं

क्योंकि परिपक्व बुद्धि होने से पिता-माता इस विषय में जैसी सुविवेचना कर सकते हैं, अपक्व बुद्धि कन्या वैसी नहीं कर सकती। तो इस विषय में वह माता-पिता की आज्ञा की अवहेलना करके कुछ काल और कुमारी रह सकती है। १८ बरस से कन्या की उमर अधिक होने से वह अपनी इच्छा के अनुसार विवाह कर सकती है। स्त्री विवाहिता होने से अपने पति के वश में रहे। पति का अतिक्रम लंघन करने से दाम्पत्य प्रेम का ह्रास होता है। फिर ऐसा भी हो सकता है कि स्त्री की मोह या भ्रान्ति से कोई अहित-जनक कर्म करने की इच्छा हुई है। पर वह इसे समझती नहीं, ऐसी अवस्था में पति के इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से क्षति हो सकती है पर पति की आज्ञानुवर्त्तिनी रहने से यह दोष या क्षति नहीं हो सकती।

(जून, १८८८, भाग १, संख्या ५)

कृषिकारक (१८९१)

पहला साल

'कृषिकारक' के पहले साल की यह बारहवीं जिल्द हमने पढ़ने वालों की नज़र किया है। श्री जगदीश्वर की कृपा से एक साल तो पूरा हो गया साल भर के हमारे टेढ़े कड़ुए बोल-चाल को हमारे बुद्धिमान पढ़ने वालों ने मीठा करके माना और हमें अपना उदार आश्रय देकर सब तरह से रक्षा किया इसके लिए हम उनके बड़े एहसानमन्द हैं।

× × ×

इस कालचक्र (वक्त के हेर-फेर) के मुताबिक ही सब की हालत अपने-अपने वक्त पर कभी गिरती और कभी उठती हुई मालूम होती है। इसी के मुताबिक अपने मुल्क की भी आज यह हालत हो गई है जो कुछ ताज्जुब की बात नहीं है। पहले किसी जमाने में अपना

यह देश (मुल्क) विद्या, कला-कौशल व शास्त्र वगैरह में अगुआ था आजकल के इतिहास लिखने वाले डाक्टर हण्टर साहब ने भी इसे कबूल किया है। तो उस वक्त में इस मुल्क में खेती के शास्त्रों का भी पूरा उदय था यह अनुमान करना भी कुछ गैर मुनासिब नहीं होगा। लेकिन आजकल हम लोग उस उम्दा और बड़े शास्त्र से ऐसे एक अजनबी से हो गए हैं कि "इस शास्त्र का यहां पूरा उदय था" ये उपज आज मुँह से निकालते हुए भी हिचकिचाता है। इसका सबब बहुत लोगों की समझ से बीच में शाही के ज़माने का होना है, खैर, अब अंग्रेज़ी सरकार का ज़माना जब से शुरू हुआ तब से इल्म की तरक्क़ी रफ़े-रफ़े होने लगी है, और इसी के साथ ही साथ खेती के शास्त्र का भी नाम हम लोगों की ज़बान पर आने लगा है यह भी कम खुशी की बात नहीं है।

(जून १८६१, भाग १, संख्या १२, पृ० २७७-२७८)

हिन्दोस्थान, ८ जुलाई, १८९८

भारत में बूढ़ा

हिन्दोस्थान के निवासियों के लिए दुर्भिक्ष, सूखा, अग्निकोप, अनावृष्टि और बूढ़ा अत्यन्त ही हानिकारी आपत्तियाँ हैं, दुर्भिक्ष और सूखा कितनों से भीख मँगाता है और कितनों को गृहहीन करके जीविका के लिए देश-परदेश का पर्य्यटन कराता है, ग्रीष्म ऋतु में अग्नि प्रकोप से कितने घर जल जाते हैं और गृह की कितनी मूल्यवान सामग्रियाँ नष्ट हो जाती हैं इसी प्रकार से बूढ़ा भी यहाँ वालों के लिए बहुत ही क्षतिदायक होता है, मध्यभारतवर्ष और मध्य प्रदेश के समान पहाड़ी और जंगली भागों में जब कि पहाड़ी नदियाँ जल-प्रवाह से उमड़ आती हैं तो उनके किनारे पर के ग्रामीणों की दशा करुणोत्पादक होती है, सारा गाँव जलमय दिखाई देता है और झुंड

के झुंड मनुष्य अपने-अपने घरों को छोड़ कर उन स्थानों में चले जाते हैं जहाँ पर बूढ़ा नहीं आता होता है ।

भारतवर्ष [१८९८ ई०]

'भारतीय ज़मींदार'

देशीय जमीदारों की आजकल कैसी दुर्दशा हो रही है वह स्वयं सब लोग देखते होंगे क्योंकि सर्कारी मालगुजारी देने के साथ रोड सेस (सड़काना), स्कूलिंग, डाक्टरी, लेडीडफरिन फंड, पब्लिक टैक्स आदि देकर बेचारों को अपने परिवार आदि के भरण-पोषण के योग्य भी अति कठिनता से दाना बचता है भाग्यवशात् यदि एक साल भी वर्षा न हुई तो सर्कार ने सब भाड़े का बर्तन नीलाम करके अपना कर वसूल कर लिया जमींदार चाहे गंगा में डूब मरें, दुःख का विषय है कि यद्यपि यह देश भारतवर्ष कृषि प्रधान है और उसी कृषि बल से हो यह देश विदेशीय गवर्नमेंट द्वारा इतना शोषित होने पर भी अभी तक जीवित हैं। तथापि यहाँ के सामर्थवान अर्थात् मूलधन लगाने योग्य जो लोग हैं उन लोगों का ध्यान तनिक भी इस ओर नहीं है इसी से जितनी उपज और तदनुसार लाभ होने की आशा है उतना नहीं होता है। इस देश दिन प्रतिदिन दरिद्र होता जाता है अतएव उचित है कि जिस प्रकार मूलधन लगा के लोग अन्यान्य कारबार करते हैं उसी प्रकार इस कृषि कार्य में भी मूलधन लगा के परीक्षा करें और लाभ उठावें यहाँ पर यह कहना भी विचार से खाली न होगा कि कृषि का पूरा लाभ ज़मींदार या कृषक को नहीं मिलता। इस लाभ के अधिकारी और ही राक्षसगण हैं जो अपने स्वामी के यश और धर्म को धूल में मिला कर स्वयम् सुख भोगा करते हैं—क्योंकि प्रथम तो पटवारी ही ज़मींदार और असामियों को बात-बात में दबा कर

अन्न गुड़ और वह कभी रुपया लेता है। इस पापग्रह से बड़ा ग्रह कानूगो साहब को जानिये कि जहाँ गाँव में पहुंचे चट ज़मींदार के चौथे चन्द्रमा आ गये प्रथम तो कानूगो साहब के घोड़ा पकड़ने को एक नौकर चाहिये पश्चात् एक उमदा पलंग तकिये सहित अवश्य दें और कड़ाई चढ़ने में तनिक भी विलम्ब कि दुर्वासा के समान लाल पीले होने लगे। इसके अतिरिक्त भेंट भी अवश्य देनी चाहिये नहीं तो इधर का खेत उधर, इस क्रूर ग्रह से महाक्रूर ग्रह तहसीलदार और तहसील के खजांची आदि को ज़ानिये क्यों कि इनके संग चपरासी आदि अनेक उपग्रह होते हैं जिनकी बिना पूजा किये यम-यातना भोगना पड़ती है यदि तहसीलदार साहब का दौरा हुआ रसद देनी ही पड़ती है। इसके भिन्न पेशकार आदि की दावत अवश्य ही करना पड़ेगी बाकी का रुपया जमा करते यदि खजांची को भेंट न दी जाय तो रसीद ही न मिले और न रजिस्टर में रुपया जमा हो सके। इन सब क्रूर ग्रहों का गुरुघंटाल अति क्रूरग्रह कलेक्टर का दौरा उठता है उस दिन से जमींदार पर साढ़ेसाती शनिश्चर आता है, प्रथम तो कलेक्टर साहब का असबाब ले चलने को गाड़ी चाहिये वह सब जमींदारों की ही पकड़ी जाती है और भाड़े में गाड़ीवानों को मारपीट वा गाली मिलती है फिर जिस गाँव में साहब बहादुर का डेरा पड़ा वहाँ के तथा आस-पास के गाँवों के जमींदारों को निद्रा तक भूल जाती है फिर अमले की दावत व खुशामद के व्यय को जमींदार लोग ही जानते है इन सब क्रूर ग्रहों के अतिरिक्त ज़मीदारों के पीछे एक और पापग्रह लगा है जिसे ऋण कहते हैं। निदान इस समय ज़मीदारों की अति दीन-हीन दशा है। अतएव हमारी नीतिवती गवर्नमेंट को इस ओर [illegible] ष ध्यान देना योग्य है।

(दिसम्बर सन् १८६१ ई०)

हिन्दी-प्रदीप (१८७७)

"हमारा पच्चीसवाँ वर्ष"

जैसा हमारा संकल्प है कि निज का प्रेस हो जाता तो बहुत तरह की झंझट से बच नियत समय पर अपने रसिक पढ़ने वालों से मिला करते और पत्र में चिरस्थायित्व आ जाता पर यह सब तो केवल कल्पना मात्र है। हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ कि हम अपने उद्योग से कृतकार्य और सफल मनोरथ हों न यही होगा कि पत्र संपादक बनाने के हौसले को तिलांजलि दे किसी विषय पर कुछ लिखने से मुँह मोड़ चुप ही बैठे रहें,क्योंकि लड़कपन से उसका चस्का पड़ा हुआ है जो अब दिनी होने से नासूर-सा हो गया यावज्जीव किसी भाँति पुरने वाला नहीं मालूम होता अंत को परिणाम यही होगा कि ऐसा ही घिसल्डते हुए चले जायँगे—मसल है "नकटा ज़िये बुरी हवाल" हम किनारेकश भी हों तो ोड़े लोगजिन्हें हमारे लेख पढ़ने का स्वाद मिल गया है कि वे उसे उस ाते रहते हैं। उनकी प्रेरणा से फिर कमर बाँध मुस्तैद हो जाना पड़ता है—पहले का-सा जोश और उमंग अब रहा नहीं लपर सपर थोड़ा चले फिर फिसल कर गिर पड़े—गिरती पड़ते हैं किन्तु लिखने का नासूर जो दुर्व्यसनसा हमारे पीछे लग रहा है हमें चुप नहीं बैठे रहने देता ख्याल के घोड़े दौड़ते ही रहते हैं नई उपज का कोई लेख बन गया तो मन मयूर आनन्द निमग्न हो नाचने लगता है।

(जनवरी-फ़रवरी, १६०३)

थोथे प्रयत्न

हमारे कवि वचनसुधा सम्पादक जो झूठी तारीफों से भेड़राज महाशय को सदेह स्वर्ग में बैठा दिया चाहते हैं सो यह निरा थोथा प्रयत्न और व्यर्थ का उद्यम है क्योंकि अब पश्चिमोत्तर के वे दिन न रहे कि राजा जो अंधों में काने की भाँति योग्यता वक्तृत्व शक्ति और

विद्या आदि में असम समझे जाते हैं। अब नई सृष्टि वाले में एक से एक चढ़-बढ़ कर ऐसे सुयोग्य तैयार हुए हैं जिनके आगे राजाजी की लियाकत प्रसंग में भी नहीं है। दूसरे इलबर्ट बिल के महा आन्दोलन में इनकी स्वार्थपरता और कपट का सब भेद खुल गया। सम्पादकजी आपकी झूटी तारीफों से कुछ नहीं होता है इससे आपका यह नितान्त थोथा प्रयत्न समझा जाता है।

दूसरा थोथा प्रयत्न सरकार पर अपना रोब जमाने को मुसलमानों की गीदड़भपकी—हमारे मुसलमान भाइयों ने चाहा था कि इस साल मोहर्रम से मचलई और गीदड़भपकी से सरकार पर गालिब आप हिन्दुओं को मन मानता पहले की भाँति सताते रहें सो ऐसा चूके कि सबों का प्रयत्न थोथा रहा हिन्दू अपनी अधीनाई और सिधाई के कारण हर तरह पर रामलीला में हर एक जगह सरसब्ज रहे मुसलमान जोश में आप सर्वथा अकृत कार्य रहे और सरकार की निगाह में हल्के जँच गये।

इन्हीं थोथे प्रयत्नों में हिन्दुस्तानियों को क्रिस्तान बनाने के लिए पादरी साहब के हर तरह के जुर्म और चाल हैं। ब्रह्म समाज, आर्य समाज थिओसोफी नेचरिये जिसे देखते हैं सब ईसाइयों ही के खंडन करने और दबाने में जोर दे रहे हैं—पर बेहयाई या धुनबाँध के किसी काम को करना कहे तो इसे ही कि चाहे कोई इनकी सुनो या न सुनो चाहे इनका कोई कितना अपमान करे उद्यम और कोशिश यहाँ तक थोथा होता रहे कि सालों साल भी कहीं क्रिस्तान होता न सुन पड़े किन्तु पादरी साहब अपने थोथे प्रयत्न से नहीं चूकते—रसिक पाठक इस निठाले में ऐसे एक भद्दे और फीके लेख के द्वारा आपको प्रसन्न रखना भी हमारा महाथोथा प्रयत्न है पर क्या करें जो कुछ हो सका अर्पण किया एक बार ऐसे ही सही।

(नवम्बर १८८५)

अभ्युदय (१९०७)

नमो धर्माय महते धर्मो धरायते प्रजा : ।

'अभ्युदय' का विज्ञापन जब से प्रकाशित हुआ तब से कई मित्रों ने हमसे कहा कि इसका उच्चारण करना कठिन है और इसका अर्थ सब लोग नहीं जानते। यह सच है कि जो हमारे भाई संस्कृत से परिचय नहीं रखते उनको इसका उच्चारण करना अभी कुछ कठिन मालूम होगा। पर हमको निश्चय है कि जिन्होंने अरबी और अंग्रेज़ी के बड़े-बड़े शब्दों को शुद्ध रीति से उच्चारण करने में प्रशंसा पाई है उन हमारे हिन्दू भाइयों को इस कोमल संस्कृत शब्द का उच्चारण करना बहुत समय तक कठिन न मालूम होगा। यह बात निश्चय है कि अंग्रेज़ी के शब्दों का उच्चारण जैसा शुद्ध हिन्दुस्तान के लोग करते हैं वैसा यूरोप के अंग्रेज़ी से भिन्न जाति के नहीं कर सकते। अब रहा इसका अर्थ। उसको हमने पहले ही लेख में स्पष्ट कर दिया है और हमको आशा है कि वह थोड़े ही समय में बहुत लोगों को विदित हो जायगा।

हमको विश्वास है कि संस्कृत के प्रेमियों को इस शब्द से विशेष प्रीति होगी। हम जितना ही इस पर विचार करते हैं उतना ही हमको यह सुखमय और कल्याणमय और उपदेशमय प्रतीत होता है। सुख समृद्धि का अर्थ तो यह पुकार ही रहा है। देखना चाहिये कि और किन अच्छे भावों को यह शब्द उत्पन्न कर सकता है। इसका पहला अक्षर 'अ' अखिल लोग की उत्पत्ति और रक्षा करने वाले, समस्त कल्याणों के विधान, परम कारुणिक, सर्वशक्तिमान विष्णु भगवान का सूचक है जिनके स्मरण मात्र से सब पाप दूर होते हैं और मन में पवित्र भाव और मंगलकारी वासनायें प्रवृत्त होती हैं। फिर इसका दूसरा अक्षर 'भू' हमको सबसे पहिले उन्हीं भगवत् की भक्ति का स्मरण दिलाता है जिन्होंने कहा है 'नमे भक्तः प्रणश्यति' और जो भक्ति हमको अधिक प्रार्थनीय है। फिर हमको यह भूति का लक्ष्मीजी

का स्मरण दिलाता है और कहता है 'भूत्यै नप्रमदितव्यम्'। कि जिन बातों से तुम्हारे देश में सम्पत्ति बढ़े उसके विषय में सचेत रहो। फिर यह हमको भारत, भगवद्गीता, भागवत, भागीरथी, भारती, भाषा और भारतवर्ष का स्मरण दिला कर आत्मा को आप्लावित करता है। और यह उपदेश करता है कि यदि देश का अभ्युदय चाहते हो तो भारत, भगवद्गीता और भागवत का उपदेश कंठ में धारण करो। भगवान् भागीरथी, भारती, भाषा, भारतवर्ष में भक्ति करो, भागीरथी के पवित्र तट पर 'भारती' की उपासना का बड़ा मन्दिर एक विश्वविद्यालय बनाओ और संस्कृत और भाषा के द्वारा विद्या का प्रचार करो और भारतवर्ष का गौरव फिर स्थापन करने के लिये यत्न करो। (बसंतपंचमी, १९०७)

हिन्दी केसरी (१९०७)

रे गयन्द, मद-अन्ध ! छिनहु समुचित तोहि नाहीं।
बसिबो अब या विपिन घोर दुर्गम मुँह माहीं॥
गुरु सिलानि, गजजानि, नखनसों विद्रावित करि।
गिरि कन्दर महँ लखहु ! पर्‌यो निद्रित यह केहरि॥

(पौष कृष्ण ३०, शनिवार, सं० १९६४ वि०)

सूरत की कांग्रेस

बंग भंग होने के कारण स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन आरम्भ होने के पहले कांग्रेस के विषय में लोगों में एक प्रकार की उदासीनता उत्पन्न हो गयी थी। विचारवान और समझदार लोग समझने लगे थे कि कांग्रेस ने जो पुराना मार्ग स्वीकार किया है वह निरर्थक है; कांग्रेस के लिये हर साल जो परिश्रम करना पड़ता है वह व्यर्थ जाता है, और उसके लिए जो लाखों का खर्च हो रहा है वह अस्थानीय है। किन्तु जबसे स्वदेशी और बहिष्कार का आन्दोलन

आरम्भ हुआ तबसे जो लोग निराश हुए थे उनके मन में नयी प्रकार की आशा उत्पन्न हुई। जो लोग समझते थे कि हम अन्धकार में टटोलते और ठोकर खाते हुए जा रहे हैं, बंगाल के आरम्भ किए हुए आन्दोलन के कारण उन अगुओं की नज़रों के सामने अदृष्ट पूर्व प्रकाश दिखाई पड़ा। यह नवीन आशा, यह नीवन मार्ग, यह नवीन आन्दोलन—कांग्रेस सम्बन्धी लोगों की उदासीनता को नष्ट करने के लिए काफी हुआ। बीस-बाईस वर्ष के प्रयत्न से, दीर्घ उद्योग से, लाखों रुपयों के खर्च से सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में व्याप्त रहने वाली यह एक ही राजकीय संस्था—राष्ट्रीय सभा—उत्पन्न हुई थी, इसके बाद चारों ओर चर्चा शुरू हुई कि इस संस्था की अन्तस्थ और बाह्य व्यवस्था का उपयोग—उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं का उपयोग उसके लिए प्रयत्न करने वाले भिन्न-भिन्न अगुओं का और अनुयायियों का उपयोग सम्पूर्ण राष्ट्र को उस प्रकाश की ओर ले जाने के काम में क्यों न किया जावे जो दूर दिखाई पड़ रहा है। इससे सभी विचारवान् लोगों के मन में खातिरी भी हो गयी कि इस नये आन्दोलन में कार्यहीन, निस्तेज और नाउम्मेद हो जाने वाली राष्ट्रीय सभा में सजीवता लाने का जादू अवश्य है। पहले सबको मालूम पड़ता था कि यदि राष्ट्रीय सभा पर नये मत की और नये पक्ष की छाप नहीं बैठेगी तो राष्ट्रीय सभा बूढ़ी होकर स्वयं अपनी प्रेरणा से न हिल सकेगी, और न बोल सकेगी, न चल सकेगी और न डोल-डगमगा सकेगी—जैसे बँधा हुआ स्तब्ध और अचल पानी आप ही आप गुज-बुजा कर सड़ जाता और दुर्गन्ध छोड़ने लगता है, तथा जिस प्रकार मन्द बुद्धि के कारण, आलस्य के कारण मानसिक ईर्षा के अभाव के कारण, शरीर को जरा भी तकलीफ न देने वाले सुख भी सजीव प्राणी गतिहीन होकर आप ही आप शून्य से हो जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय सभा नाम शेष हो जायगी। समय ने पलटा खाया है। (४ जनवरी, १६०८)

सम्राट् (१९०८)

कृषि की उन्नति होने की आवश्यकता

इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि भारतवर्ष का अभ्युदय विशेषकर कृषि ही की उन्नति होने पर निर्भर है। यद्यपि संसार के सब देशों में, जहाँ मनुष्य जाति का निवास है, कृषि में कुशल रहने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है, परन्तु तब भी भारतवर्ष की अपेक्षा कम! क्योंकि इस देश से कृषि का बहुत ही अधिक सम्बन्ध था, अब भी है और अन्त तक रहेगा। भारतवर्ष की जनसंख्या की कम से कम तीन चौथाई संख्या कृषि ही के आधार पर कालक्षेप कर रही है। यदि किसी साल वर्षा कृषि के विपरीत होती है अथवा और किसी कारण से कृषि में हानि पहुँचती है (जैसा कि दुर्भाग्य से गत कई वर्ष से बराबर हो रहा है) तो, सम्पूर्ण भारत में हाहाकार मच जाता है; इसी कारण से कृषि की उन्नति सबसे उत्तम और श्रेष्ठ समझी जाती है, क्योंकि व्यापार आदि का नम्बर इसके पश्चात् है। इस विषय में यहाँ एक जनश्रुति इस प्रकार पर है—

"उत्तम खेती मध्यम बान। निकृष्ट सेवा भीख निदान ॥"

जब कोई मनुष्य शहर से बाहर निकल कर देहात में भ्रमण करता है तब उसे ये दो आश्चर्यजनक बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह किसान लोग तन, मन, धन से अन्नोपार्जन में अति परिश्रम के साथ लवलीन हैं और दूसरे यह कि व्यापार आदि में जितनी उन्नतियाँ हुई हैं, उनसे नाम मात्र को भी लाभ नहीं उठाया गया। तात्पर्य यह है कि व्यापार आदि से देश को अभी कुछ अधिक लाभ नहीं हुआ, बस हम लोगों का देश दिनों दिन अधिक निर्धन और निर्बल होता जाता है; हाँ कुछ गिने-गिनाये लोग अवश्य धनी बन बैठे हैं।

(४ अक्टूबर, सन् १९०८)

वीर भारत

(अगहन वदी २, रविवार, सम्वत् १९६७)

कांग्रेस

आगामी २६ दिसम्बर से इलाहाबाद में कांग्रेस की बैठक शुरू होगी। दो वर्ष तो कांग्रेस की चिता भस्म पर मेहता की मजलिस की बैठक हो रही है। अबके न मालूम कांग्रेस की बैठक होगी या मेहता मजलिस की। यदि मेहता मजलिस की बैठक हुई तो मनमानी कार्रवाई होगी किन्तु सुनते हैं कि इस साल कांग्रेस की बैठक होगी, इससे मालूम होता है कि सूरत के कांग्रेस में जिन कारणों से मुखियाओं में झगड़ा हुआ था शायद इस मर्तबे उसका फैसला हो जायगा। हमारी भी यही इच्छा है कि जितना शीघ्र ही झगड़े का फैसला हो जाय। कारण यह है कि जब तक आपस में फूट रहेगी तब तक गवर्नमेंट से राजनीतिक अधिकार पाना कठिन है। पंजाब, संयुक्त प्रदेश तथा मंदराज के अधिवासी जानते हैं कि सर फिरोज़शाह मेहता ने कैसी गन्दी भाषा में श्री युक्त भूपेन्द्रनाथ वसु को कैसी गालियाँ दी थीं—इसके सिवा जहाँ कहीं कांग्रेस की बैठक हुई वहीं सर फिरोज़शाह मेहता ने मनमानी कार्रवाई की है। इस दफा यदि कांग्रेस में क्रीड तथा कान्वेशन की बात छेड़ी गई तो फिर झगड़े की सम्भावना है। कांग्रेस के विषय में कोई खास समाचार न मिलने पर भी अभी से दलादली की बातें हो रही हैं—क्या कोई कह सकता है कि इसका कारण क्या है?

मालूम होता है कि कलकत्ता कांग्रेस कमेटी के सिर पर कोई भूत या चुड़ैल सवार है। यदि ऐसा न होता तो कुत्ते की तरह दुरियाये जाने पर भी मेहता के कान्वेशन का समर्थन करते जो पत्र आज तक कांग्रेस को समर्थन करते आए हैं क्योंकि उन्हें किसी तरह की खबर नहीं दी जाती। सर हारवी एडसन ने एक दफा कहा था कि जो हमारे साथ नहीं हैं, वे हमारे विरोधी हैं, क्या यही कारण है कि कांग्रेस के सम्वाद पत्रों में नहीं छपवाये गये?

परन्तु कांग्रेस के हित चाहने वाले अभी तक कांग्रेस को नहीं भूल सके। खबर न पाने पर भी कांग्रेस के बारे में उन्हें दो-चार बातें कहनी ही पड़ती हैं।

आजकल के नई बनावटी मुखियों के चीत्कार के कारण असली बातें समझ ही में नहीं आतीं परन्तु दो-चार पुराने मुखियों की स्नेहमय वाणी सुन कर सभा को अग्रसर होना पड़ता है। क्या हम पूछ नहीं सकते ? कि इन बनावटी मुखियों से झगड़े का फैसला होगा न जननी भूमि की सेवा। इन्हीं के कारण पुराने तथा असली मुखिया कांग्रेस से अलग होने का विचार कर रहे हैं। शिक्षित साधारण को उचित है कि इस ओर ध्यान न दें क्यों आजकल भारत की सभा की वह उत्तेजना घट गई है ? जब से द्वारकानाथ वन्दोपाध्याय का स्वर्गवास हुआ तब से भारत सभा की दुर्दशा हुई। प्रसिद्ध बनने के ख्याल से जो लोग माता की सेवा करते हैं वह कभी पूरी तरह से सेवा नहीं कर सकते। जब श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ कृष्णकुमार मित्र, अम्बिकाचरण मजुमदार विज्ञ राजनीतिक मौजूद हैं तब क्यों दलादली होती है तथा संकीर्णता का प्रभाव पड़ता है ? बंगाल में तो दलादली हो रही है। 'मरहटे' कांग्रेस से अलग हो गए हैं। पंजाब के अधिकांश अधिवासी कान्वेशन से सरोकार रखना नहीं चाहते, संयुक्त प्रदेश के बहुत से अधिवासी मेहता मजलिस में शामिल होने में हिचकते हैं। इसी से कहना पड़ता है कि जब तक एक्यता न होगी तब तक कांग्रेस सर्वांग सुन्दर नहीं हो सकता। यदि कांग्रेस में श्रीयुत दादाभाई जैसे राजनीतिज्ञ रहते, यदि सुरेन्द्रनाथ की बात मानी जाती, यदि सर फिरोजशाह मेहता संयमित हो जाते तो ऐसी दलादली न होती। अबके केवल यही आशा की जाती है कि सर विलियम वेडर्बर्न इस झगड़े—इस दलादली का फैसला कर देंगे। इसी से हम सभ्य सम्प्रदाय के मुखियों को अनुरोध करते हैं कि वह इलाहाबाद के कांग्रेस में आवें तथा अपने अभाव अभियोगों को प्रकट कर झगड़े

तथा दलादली का फैसला कर लें। जब कुल झगड़ा का फैसला हो जायगा तो फिर वह दुगने उत्साह में कार्य कर सकेंगे।

आज [काशी, १९२०]

(सौर २० भाद्रपद, संवत् १९७७ के अंक में प्रकाशित अग्रलेख)

जब कोई नया पत्र संसार में प्रवेश करने का साहस करता है तो साधारणतः उसे अपना उद्देश्य बतलाना पड़ता है कि वह किसी अभाव को पूर्ण करने को आया है। हम इस परम्परा को तोड़ने की धृष्टता नहीं कर सकते। अतः आज कृष्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित हो कर हम अपने संसार में आने का उद्देश्य बतावेंगे।

प्रथम तो इस पत्र का नाम 'आज' क्यों रखा गया यह बतलाना चाहिए। हमारा पत्र दैनिक है। प्रत्येक दिन इसका प्रकाशन होगा। संसार भर के नये से नये समाचार इसमें रहेंगे। दिन-दिन संसार की बदलती हुई दशा में नये-नये विचार उपस्थित करने की आवश्यकता होगी। हम साहसपूर्वक यह प्रतिज्ञा नहीं कर सकते कि हम सर्वकाल सर्वदेश सर्वावस्था के लिए जो उचित और सत्य होगा वही सर्वथा कहेंगे अथवा कह सकेंगे। हमको रोज़-रोज़ अपना मत तत्काल स्थिर करके बड़ी-छोटी सब प्रकार की समस्याओं को समयानुसार हल करना होगा। जिस क्षण जैसी आवश्यकता पड़ेगी उसकी पूर्ति का उपाय सोचना और प्रचार करना होगा। भूत घटनाओं से शिक्षालाभ कर हमको भविष्य के लिए कुछ कर जाना है। पर करना आज ही है। हम लोग पूर्व गौरव के गान गाते हैं और भविष्य के स्वप्न देखा करते हैं, पर आज का विचार नहीं करते। जिसमें भारत को सर्वदा 'आज' का स्मरण रहे इसलिए हम 'आज' नाम से ही आप लोगों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि हम जन्म क्यों ले रहे हैं। क्या और पत्र

नहीं है ? क्या हम उनसे प्रतिद्वन्दिता के भाव से आगे बढ़ रहे हैं ? इसका उत्तर हमें यह देना है कि हमारा भाव कदापि ऐसा नहीं है। हम मातृभूमि की सेवा में हाथ बँटाना चाहते हैं। हम उनके समकक्ष बैठना चाहते हैं। हम नम्रतापूर्वक आशा करते हैं कि देशोन्नति के शुभकार्य में हमारा उनका सहयोग होगा, वे हमारी और हम उनकी त्रुटियों की पूर्ति करेंगे और हम सब साथ चल कर देश के स्वातन्त्र्य के कार्य में सफलता पाने का यत्न करेंगे।

तीसरी बात यह है कि हमारे विशेष उद्देश्य क्या हैं। हमारे संचालकों की ओर से प्रकाशित कर्तव्य-सूचना-पत्र में लिखा है कि "भारत के गौरव की वृद्धि और उसकी राजनीतिक उन्नति 'आज' का विशेष लक्ष्य होगा।" भारत का राजनीतिक आकाश इस समय घनघोर घटाओं से आच्छादित है। हम किधर जा रहे हैं इसका पता नहीं लग रहा है। भिन्न-भिन्न मनुष्य अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों पर हमें ले जा रहे हैं। साधारण स्त्री-पुरुष, जो अपने प्रतिदिन के कर्तव्य पालन में लगे हैं और जिनको राजनीति, समाजनीति जैसे गूढ़ विषयों पर विचार करने का अवकाश बहुत नहीं मिलता है, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। ऐसी अवस्था में हमको यह आशा है कि प्रतिदिन की समस्याओं को हमारा पत्र स्पष्ट रूप से दरसावेगा और उन लोगों को आगे चलने का मार्ग दिखावेगा जो आज सशंक हो रहे हैं और पथप्रदर्शक को खोज रहे हैं। हमारे सिद्धान्त साधारणतः स्वराष्ट्र दल के हैं। स्वराष्ट्र अथवा राष्ट्र दल से हमारा अभिप्राय केवल कांग्रेस वा राष्ट्रीय परिषद् के अनुयायियों से नहीं है। हाँ, राष्ट्रीय परिषद् की वर्तमान नीति से हम प्रायः सहमत हैं। पर सम्भव है कि राष्ट्रीय परिषद् आज नहीं तो कल अधिकतर ऐसे सज्जनों से भर जाय जो राष्ट्रीयता के पक्षपाती न हों। उस दिन राष्ट्रीय परिषद् से हम सहमत न हो सकेंगे। हमारा उद्देश्य देश के लिए सर्व प्रकार से स्वातन्त्र्य उपार्जन है।